Amir-ud-daul. Pu. ic Library
H
891.4332
M58S
61130

अमीरउद्दौला पब्लिक लाइब्रेरी लखनऊ

H

क्रम सं० ८९१.४३३२

पुस्तक सं० M5८९

सेमल के फूल

मार्कण्डेय : जौनपुर जिले के एक गाँव में जन्म, वहीं प्रारम्भिक शिक्षा और वहीं के किसान परिवार के संस्कार, फिर प्रतापगढ़ तथा इलाहाबाद, और इसी क्रम में राजनीति और साहित्य से सम्पर्क। संप्रति प्रयाग विश्वविद्यालय में 'संत साहित्य : विशेषतः कबीर में लोक तत्व', पर खोज।

कहानी, कविता, नाटक और आलोचना में एक सी रुचि, जिसके कारण लेखन के इतने अल्प-काल ही में हिन्दी-पाठकों में व्यापक रूप से परिचित। कहानियों के दो संग्रह : 'पान-फूल' (१९५४) और 'महुए का पेड़' (१९५५), अब तीसरा संग्रह 'हंसा जाई अकेला' शीघ्र प्रकाशित होगा। 'लोढ़ा-चक्र' नामक हास्य-व्यंग्य से पूर्ण ग्रामीण चरित्र के आधार पर दस कहानियों के एक नवीन औपन्यासिक कथानक में संलग्न।

'पत्थर और परछाइयाँ' (१९५६) एकांकी-संग्रह के प्रकाशन के बाद 'छाया नट' नामक एक बड़े नाटक की योजना, यह है 'सेमल के फूल' एक लम्बी प्रेम-कथा, जिसे कई लोग प्रेमाख्यानक लघु उपन्यास भी कहेंगे।

सेमल के फूल

मार्कण्डेय

नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद

की ओर से प्रकाशक

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली इलाहाबाद बम्बई

पुस्तक संख्या—२ 61136

नया साहित्य
प्रेम-कथा-माला—१

प्रथम संस्करण
दिसम्बर, १९५६

सज्जाकार
कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
हिन्दी साहित्य प्रेस
इलाहाबाद

नया साहित्य प्रकाशन
२ डी, मिंटो रोड
इलाहाबाद
की ओर से

राज कमल प्रकाशन
इलाहाबाद
द्वारा प्रकाशित

मूल्य
एक रुपया आठ आने

केवल प्रार्थना ही एक ऐसा अस्त्र है, जिससे मन की चंचलता पर विजय पायी जा सकती है। गाँधी जी ठीक ही कहा करते थे, और अगर उनके या उन तमाम सुधारक नेताओं के कहने पर न भी जाएँ तो मेरा अपना ऐसा ही अनुभव है, जो शायद दूसरों के लिए संदेहप्रद हो पर मेरे मन में इस पर दृढ़ विश्वास है। सारी सांसारिक जटिलताओं का हल मनुष्य के व्यक्ति मन के भीतर ही है और दुख इन्हीं जटिलताओं का बंधु है। इसलिए जब भी उसकी बात सोचता हूँ, मुझे प्रार्थना का स्मरण हो आता है।

उस दिन स्टेशन पर मैं भी था, जब वह अपनी पत्नी की चिता-भस्म लेकर लौटा था—खोया, खोया-सा, नितांत उजड़ा हुआ। मुझे उसने देखा था, पर बातें हो ही क्या सकती थीं,

वहाँ। क्षण भर को उसकी आँखें डूब गयी थीं और वह किसी से कह रहा था, "भाई जो ईश्वर की इच्छा थी, वह तो हो ही गया पर मैंने कोई कसर उठा नहीं रखी। घर के कई बीघे खेत बेच दिये। डाक्टर ने जो भी बताया किया।" फिर वह इधर-उधर देख कर मेरे पास आ गया और कहने लगा, "किसी दिन घर आना, हाँ!" और चाँदनी रात में ऊसर-भूमि की विस्मृत पगडंडी पर किसी राह भूले मुसाफ़िर की तरह वह चला गया।

तब से कई दिन बीत गये, लेकिन आज यह सुनकर उसके यहाँ पहुँचना ही पड़ा कि वह बहुत दुखी है। किसी तरह भी उसका मन अपने दुख की पीड़ा को नहीं भूल पा रहा है।

वह गाँव का रहने वाला है। अच्छी खासी खेती भी है उसके पास, पर उसने पढ़-लिख कर यहीं वकालत कर ली है। रहन-सहन के ढंग और तौर-तरीक़ों में वह शहरियों के भी कान काटता है। अपने नन्हें-से काटेज़ को वह पत्नी ही के नाम पर 'नीलिमा' पुकारता है।

मैं जैसे ही उसके फाटक में घुसा, उसकी बूढ़ी माँ सुबक-सुबक कर रोती मिलीं—"कब से कह रही हूँ पर उस लतर के के नीचे से उठता ही नहीं। ना जाने क्या हो गया है, इसे? ठीक से खाता-पीता भी नहीं।"

मुझे देखकर भी वह बैठा ही रहा, कुछ बोला नहीं।

मैंने कनखियों देखा, वह मुझे देख रहा है...फिर वह लान की दूधिया घास के एक छत्ते की ओर देखता हुआ उठ खड़ा हुआ और कहने लगा, "चलो अंदर बैठें।" और डग

बढ़ाता हुआ 'स्टडी' में घुस गया, जहाँ लोग कहते हैं, वह किसी मित्र के साथ कभी नहीं बैठता था।

मैं अंदर गया तो सारा कमरा रद्दीखाने में बदला हुआ था। कई बड़े-बड़े बक्सों से ज़नाने कपड़े निकाल कर एक ओर डाल दिये गये थे। बहुत सारी चिट्ठियाँ, नोट बुकें, किताबें, पत्रिकाओं की पुरानी फाइलें और डायरियाँ इधर-उधर पड़ी थीं। तसवीरों के अलबम और निगेटिव्स के पैकेट बिखरे थे। देखने से लगता, जैसे कई रातों से वह इनमें कुछ खोजता रहा है। इस सबसे अलग बैठना उसके लिए सम्भव नहीं। वह एक टक मेरी ओर देखता रहा। धुँधलका बढ़ गया था; उसके चेहरे के बढ़े बालों की कालिमा कुछ और गाढ़ी हो गयी थी और उसके रूखे-लम्बे बालों का रंग वातावरण में खोता जा रहा था। मैंने हाथ बढ़ाकर स्विच दबा दी और कमरा नीले प्रकाश से भर गया।

मैंने दुखों के निराकरण की बात उससे कही तो वह हँस के रह गया, फिर जैसे कुछ सँभलते हुए उसने कहना शुरू किया, "तुम ठीक ही तो कहते हो भाई, पर शायद तुम मुझे ही ग़लत समझ रहे हो!"

मैं चुप हो गया तो पास से खिसकने की आवाज़ सुनायी पड़ी। अम्माँ थीं। मैं उनकी तरफ़ मुड़ ही रहा था कि उसने कहा, "अम्माँ! इन्हें कॉफ़ी पिलवाओ। और देखो, खानसामा से कहकर इनका खाना भी बनवा लो। आज यहीं खाएँगे।" फिर वह मुझे घूरकर देखता रहा और सहसा जैसे किसी चट्टान की परत को भेदकर निकलने वाले निर्मल झरने की तरह बोलने

लगा, ..."ऐसी औरत न तो मैंने देखी है, न देखूँगा। जब से मेरे जीवन में आयी, कभी एक मिनट को भी न मालूम हुआ कि मैं उदास हूँ...रात-दिन जैसे मेरी आत्मा पर उसका स्नेह छाया रहा। मेरी काया का कोई भी रोम ऐसा नहीं दीखता जिस पर उसका संस्पर्श न हो। कोई भी ऐसा काम नहीं, कोई भी ऐसी चीज़ नहीं, जिसके पीछे उसकी छाया न हो। और आज जब वह नहीं है तो उसका सारा किया-दिया और भी उजागर हो गया है।"

उस समय मुझे लगा कि इसकी आत्मा स्नेह की निर्मल धार में धुल कर तुष्ट हो गयी है। अब क्या चाहिए इसे ? और मैं सोचता रह गया था कि वासना की नींव पर प्रेम का महल खड़ा करने वाले साधारण विरह में भी कितने पागल हो जाते हैं; और यह है कि अपनी इतनी प्यारी पत्नी को श्मशान की लपटों में डालकर भी उसे अपने हृदय में बसाये है। मैं बहुत देर तक चुपचाप उसे देखता रहा था। कभी वह कमरे की दीवारों और तसवीरों को देखता, कभी फ़र्श पर बिछी कारपेट पर निगाह धँसाकर चतुर व्यापारी की तरह, कुछ देर के लिए खो जाता। फिर एकाएक उस मौन को तोड़कर किंचित मुस्क-राता हुआ बोल पड़ता, "लगता है इस सब पर उसके हाथों का निशान बाक़ी रह गया है। जैसे वह यहीं कहीं है। अभी धीरे से किसी दरवाज़े से घुस कर चाय के लिए पूछ बैठेगी।" इतना कहकर वह फिर खो गया; फिर जैसे स्वयं अपने से ही कहा हो उसने, "...और नीलिमा...! वह तो मेरे जीवन की आराधना थी। मैं प्रेम-स्नेह नहीं जानता, न इसकी तहों

का अंदाज़ है, मुझे। बस एक अंध भक्ति...” कहते-कहते वह धीरे से उठ खड़ा हुआ और पीले रेशम में बँधी दो लम्बी-पतली नोट बुकें मेरे सामने रखते हुए, उसने पत्रों की दो निहायत खूबसूरत फाइलें भी आगे डाल दीं। फिर कहने लगा, “जिस दिन वह मुझे छोड़ कर जाने लगी, यह डायरी उसके सिरहाने ऐसे ही खुली हुई पड़ी थी। मैंने तब इसका खयाल ही नहीं किया, और न उन सब बातों का अर्थ ही समझ पाया। डाक्टर कहता था, ‘हार्ट फेल’ हो गया है। कोई गहरा शॉक लगा है।

“हुआ ऐसा कि मैं एक साहब के साथ बाहर बैठा बात कर रहा था। सहसा ज़ोर से चीख सुनायी पड़ी। मैं दौड़ा हुआ अंदर गया तो नीलम बेहोश थी। उसकी दोनों आँखें बंद थीं। पर उनसे आँसू बह रहे थे और उसके वे शब्द—“तुम ऐसा कहते हो !...तुम ?...मैं विमुख हो गयी ?...मैं...! ...अमृता तू ही जवाब दे सकती है, इनको,...शीबू तू ही...” जाने कितनी देर तक वह यही बुदबुदाती रही। मैंने बहुत पुकारा, बहुत परेशान हुआ पर यही कहते-कहते सहसा उसने मुँह मोड़ लिया।

“एक छोटा-सा कागज़ का टुकड़ा, यह डायरी और कलम; सब वहीं बिस्तर पर पड़ी थीं। पर मैंने उस समय कुछ भी ध्यान न दिया। उसकी तो आदत थी नोट बुक रखने की, कुछ लिखते रहने की, इसलिए मैंने समझा कुछ होगा...लेकिन इसी कहानी को लिखते-लिखते उसने...” वह आगे बोल नहीं सका, जैसे पहली बार उसका गला भर आया हो; फिर जैसे अपने को बहुत

दबाकर कहने लगा... "मैं नीलमा पर संदेह नहीं करता। न, ऐसा करके सुख ही पा सकता हूँ।" और उसने दूसरी कुर्सी से शाल उठाकर मेरे ऊपर डाल दी। बसंत के शुरू के दिन थे। हवा के सरसराते रथ पर सौरभ की सुसज्जित सेना हमारे कमरे की खिड़कियों को उढ़का जाती थी। लेकिन सब कुछ जैसे उदासी के आलम में डूबा हुआ—निष्प्राण, निष्प्रभ, उजड़ा-उजड़ा-सा।

मैंने जो नोट बुक पहले उठायी, वह डायरी थी। उसने कहा "इसे नहीं, पहले यह कहानी तो पढ़ जाओ।"

मैंने दूसरी नोट बुक खोली तो पहले ही पन्ने पर सफ़ेद गुलाब की पंखुड़ियाँ मुस्करायीं। दाहिनी ओर कोने में लिखा था, 'सेमल के फूल' दूसरे पृष्ठ के ऊपर ही समर्पण था, 'अमृता और उसके शीबू को, मात्र जो इस कहानी का सत्य पहचान सकेंगे, क्योंकि वे ही इसके साक्षी हैं।'

अगले पृष्ठ से बड़े पतले अक्षरों में कहानी इस प्रकार लिखी थी..

अच्छा होता कि इस कहानी को तुम्हीं लिखते, क्योंकि तुम्हारे हाथ में एक ऐसी कलम है, जो अपने पैनेपन के बावजूद दुधमुँहे बच्चे को सुलाने वाली लोरियों से भी मधुर और पवित्र गीत गा सकती है। जो काल कूट भैरव की क्रोधाग्नि को शांत करने के लिए पार्वती के सुकुमार होंठों का सुमधुर सम्भाषण लिख सकती है। जो कालिदास के विरही यक्ष की वायु में उड़ती वाणी को लिपिबद्ध कर सकती है। मैं तो नितांत सरलता में जीती हूँ—जीती रही हूँ। टूटे-फूटे पत्रों

की भाषा रगना भी मुझे नहीं आता। पर मुझे एक ही भरोसा है;...कभी तुमने किसी वादाविवाद में कहा था, "नील, भाषा साधन मात्र है। साध्य तो भाव हैं। कभी-कभी तो भाषा के चोंगे में ये भद्दे भी हो जाते हैं, इसलिए मुझे किसी कविता के किसी विशिष्ट भाव से, उसी भाव की नृत्य मुद्राएँ अधिक प्रिय हैं। उसमें चाहे भाव अधूरे रह जाएँ पर बिगड़ते नहीं। तुम्हारी वह प्रतीक्षा की मुद्रा,...आँखों की उदास और अधकँपी भौंहें, हाथों और उँगलियों का पुष्पित, पर्वती ढलान-सा उतार..." तुम बोलते जाते और मैं तुम्हारे दूरस्थ केन्द्रित नेत्रों को बगल से देखती रह जाती थी। मैं तब कितनी छोटी थी, कैसी निर्बुद्धि, पर जाने क्यों, उस समय भी तुम्हें मैं एक नन्हें शिशु से अधिक कभी न समझ सकी। लगता, अभी तुम खिलखिला कर हँस पड़ोगे और मेरी गोद में सिर डालकर मुझे परेशान करने लगोगे। फिर क्या होगा,...फिर...और तुम्हारी बातों का सूत्र मैं हमेशा खो देती थी। पता नहीं क्यों, जब तुम उठकर चले जाते तो मैं उस भूमि की जड़ माया में डूबी रहती और सोचती, जैसे तुम्हारा कोई अंश यहाँ छूट गया है। तुम्हारी गंध इस हवा में बस गयी है। कभी कभी तो जी भर रोती और जब थक जाती तो सो कर सपनों में तुम्हें उसी तरह देखती और फिर उसी तरह तुम उठ कर चले जाते और मैं चौंककर उठ बैठती।

इसलिए मुझे भरोसा है कि कलम की धनी न भी सही, पर मन की धनी...पर मैं उसे भी तो ठीक नहीं समझती! इस निर्गुण उपासना में मन पर ही क्यों कर विश्वास होने

लगा। कितना सूक्ष्म और अकिंचन है यह! लेकिन मैं हताश नहीं हूँगी। जब जीवन के इतने लम्बे रास्ते पर कभी निराशा की हवा को भी पास फटकने न दिया तो आज ही क्यों हार मान जाऊँ? डर सिर्फ़ इस बात से लगता है कि शरीर के साथ मेरी स्मृति क्षीण होती जा रही है। पहले जिस तरह उसे पिरोकर एक स्पष्ट खाका बना लेती थी, वह अब नहीं बन पाता तो साँस का हर तार हृदय में शूल की तरह गड़ने लगता है। कभी सोचती थी कि तुम्हारी स्मृति के सहारे मौत से भी टक्कर ले लूँगी। पर आज उसके लिए भी माध्यम ढूँढ़ने लगी हूँ। काश, तुमने मेरी कहानी लिखी होती। लेकिन मेरे भाग्य में इतना बल कहाँ! इसलिए जब डाक्टर आँखें फाड़-फाड़कर टेम्प्रेचर का रिकार्ड देखता है और मेरे स्वामी उसे मेरे पूर्ण आराम करने का आश्वासन देते हैं तो मुझे हँसी आती है। फिर सोचती हूँ, ये कितने भोले हैं! आखिर जब दवा लेने जाते हैं या रात सो जाते हैं तो क्या मैं आराम करती हूँ? डाक्टर तो केवल शरीर जानता है, मन की दवा वह कैसे करे! उसे पता भी क्या कि मैं कहानी लिख रही हूँ, और वह भी ऐसी वैसी नहीं; किसी की प्रेम कहानी।

लेकिन यह सब क्या लिख रही हूँ। कोई 'जर्नल' लिखने तो बैठी नहीं। कहानी में तो प्रसंग से बाहर कभी नहीं जाना चाहिए, पर मेरी तो पूरी ज़िन्दगी ही इस कहानी का प्रसंग है। सच कहूँ तो अब तक जो भी किया, सब उन्हीं के लिए...उन्हीं की खुशी के लिए। जाने कहाँ होंगे, पर रोज़ लगता है, मेरे

वृक्षों पर, मेरे तौर-तरीक़ों पर उनकी निगाह जमी रहती है। अभी-अभी मैंने जूही की कलियों के गुच्छ बाल में इसलिए बाँध लिया कि उनकी पूरी आकृति कई दिनों पर आँखों में क्षण भर के लिए रुक गयी थी—अभी-अभी, पर अब तो कभी उनके पैरों की बनावट, कभी हाथों की पतली-लम्बी अँगुलियाँ, कभी पतली नासिका और कभी अमोले के पत्ते से बड़े-बड़े बाल—ओह कितनी मासूम हँसी है इन होठों पर, बहुत दिन पर देखा इसे प्राण!

मेरा जी हल्का है। सीने में जलन भी कम है, पर स्मृति आज और भी क्षीण हो गयी है। सोच नहीं पा रही हूँ कि यह कहानी कैसे खड़ी करूँ! कहाँ से उठाऊँ कि सारी कथा एक लड़ी में गुथ जाए। सहसा मुझे वही एक शाम याद आती है—इलाहाबाद की मार्च की शाम! आज उसका स्मरण करके यही लगता है कि देवों ने संध्या का निर्माण करके, उसे सबसे पहले तीर्थराज ही में उतारा होगा। गुलमुहर की फुनगियों में आग की लपटें छिपाकर, किसी ने चुपके से इस फागुनी शाम की माँग भर दी होगी। पर मुझे क्या पता! मैं तो इतना मात्र जानती हूँ कि छे महीने की लम्बी दुख-निद्रा उस दिन एकाएक टूट गयी थी। तभी मैंने पहचाना था कि मेरी मौसी का घर कितना सुंदर है। अहाते के कोने में खड़ा, विशाल किन्तु रूखड़ा और नंगा, अशिष्ट सेमल चाँदनी के प्रकाश और तारों जड़ी, नीली सुजनी की ओट से कितनी

मोहक छाया ज़मीन पर छोड़ता है। नशे में बौराई गुलाब की कलियाँ इन शामों में किस तरह खिलखिला कर एक दूसरे को गुदगुदाती हुई हँसा करती हैं

मैं जब जन्मी तो पिता गये, और अब, जब कन्या परायी धरोहर होकर घर वालों के गले की फाँस बन जाती है तो माँ भी चुपके से खिसक गयीं। कैसी अपशकुन की धरोहर थी—कितनी अभागी ! फिर उसे चोर भी क्यों छूता ! पिछले महीने इस-उस नातेदार के यहाँ अशुभ करके लौटी हूँगी; ऐसा ही सोचती हूँ, पर इतना ज़रूर याद है कि मौसी ने बड़ी सादगी से मुझे बुलाया था। मौसा राजनीतिक कार्यकर्ता थे, दिन-रात मिलने-जुलने वाले, फिर कचहरी और शाम को सभा-सोसाइटी। मौसी भी कभी घर रहतीं, कभी शाम मुझे लेकर, कभी छोड़कर, घूमने चली जातीं। मेरी शामों का साथी बूढ़ा मंटू और वही अशिष्ट सेमल।

ऐसी ही एक शाम को मेरी मृत माँ सदेह सामने खड़ी हो गयी। सँझलौका था, मंटू ने अभी बत्ती भी नहीं जलायी थी। बरामदे के मोढ़े पर बैठी, घुट्टियों पर पड़े घुँघरू की पट्टियों के निशान देखने की कोशिश कर रही थी। लगा, किसी ने कहा हो, "थक गयी न, चल मालिश कर दूँ!" मैंने अकचका कर देखा तो वहाँ कोई छाया भी न थी। फिर बहुत रोना आया। आँसुओं में पिछले छे महीने की उलझनें एक-एक कर बह आतीं, और सीना तान कर खड़ी हो जातीं। जैसे

कहती हों—अभी क्या देखा तूने लड़की, दुनिया एक ओर जितनी मीठी है, दूसरी ओर उतनी कड़वी भी। मैं फूट-फूटकर रोने लगी थी। तभी मंट्टू बत्ती जलाने आया और देर तक मुझे समझाता रहा। महराजिन भी चौका छोड़ कर आयी और मंट्टू को मुझे बाहर ले जाकर साथ बैठने की हिदायत दे, चली गयी।'

सेमल के मोटे तने के पास खड़ी, अपनी चारपाई बिछाते हुए मंट्टू ने कहा था, "यहीं बैठो बिटिया रानी, देखो इस साल कितने अच्छे फूल आये हैं, अपने गुलाब में, मैं अपनी बीड़ी-सलाई ले आऊँ।"

मुझे पता नहीं मंट्टू कब आया, कहाँ बैठा; पर उसकी आवाज़ और इधर-उधर की बातें कान में पड़ती रहीं। अथाह समुद्र में डुबकियाँ खाने वाला जैसे कभी लहरों का ही भरोसा कर बैठे। ठीक वैसी ही गति थी मेरी, उस समय। मैं कुछ भी ग़लत न लिखूँगी, क्योंकि कल्पना तो उनकी सहायक होगी, जिनके जीवन में अनुभवों की दरिद्रता हो। मेरे जीवन की सच्चाइयाँ तो कल्पनातीत हैं।

तुम्हारा आना भी नहीं जानती। अक्सर सोचती रही, काश उस दिन तुम्हारा आना देख पाती! किस तरह मेरा सरताज आया, कैसे वह इस अकिंचन देह की देहरी पर आकर खड़ा हो गया, और उसने देखा कि इसका वासी कितना बेखटका रहता है। दसों द्वार खुले हैं, तब भला रवीन्द्रनाथ की वह नायिका तुम्हें कैसी लगी होगी, जिसका जिक्र तुम प्रायः किया करते थे,...राजकुमार का आगमन जान वह

इसलिए नहीं मिली कि सुसज्जित न थी। राजकुमार लौट गया, लेकिन मेरा राजकुमार लौटने वाला न था, न मैं ही अपने प्राप्य के स्वागत के लिए इतनी निस्तेज थी।

तुमने सबसे पहले मौसी को पूछा था। आवाज़ सुनकर जी में आया कि सिर उठाकर देखूँ। तब तक तुमने पूछा, "यह मीरा है क्या, मंटू?"

"अभी मीरा बिटिया की छुट्टी कहाँ! यह तो नीलम है—बहू जी की छोटी बहिन की लड़की, जो इसी साल गुज़र गयीं..."

"अरे यह नीलिमा है!" और तुमने मेरी ठुड्डी के नीचे हाथ लगा कर, मेरा सिर ऊपर कर लिया था। मैं चारपाई की पाटी पर बैठी थी. गिरते-गिरते बची और उठ खड़ी हुई।

"इतनी बड़ी हो गयी तू!" तुम्हारा हाथ मेरी पीठ पर था, और बालों पर तुम्हारी साँसों का दबाव साफ़ महसूस हो रहा था।

"अरे रोती है पगली, मौसी का ध्यान हो आया क्या?" तुम्हारा भी गला भर आया था, पर जल्दी से रूमाल निकाल तुम मेरी आँख पोंछने लगे थे। मैं अब भी नहीं जान पायी थी कि तुम कौन थे, पर थे अपने ही...शायद माँ की अभी-अभी आयी याद तुम्हीं थे।

मैंने सिर नीचा कर लिया था। देखा भी नहीं उस दिन कि तुम कैसे हो! हाँ, तुम्हारी पतली, लम्बी अँगुलियाँ, तुम्हारी साफ़ और मधुर आवाज़ इस बात की साक्षी थी कि तुम्हीं

मेरे देवता हो। लगा यह तो वही आवाज़ है, जिसे मैं युग-युग से खोजती भटक रही थी।

तभी मंटू अपनी बीड़ी ले आया, मैं सोचती थी वह कुछ बोलेगा, कहेगा कि अभी कोई आया था। ज़रूर मंटू तुम्हें चाहता होगा। मैं उसके बुढ़ापे से जर्जर टेढ़े-मेढ़े होठों की ओर देखते-देखते, जाने कैसे उस सेमल के तने से उठँग गयी थी। उसके नुकीले काँटे मेरी पीठ में मंटू की बात के साथ ही चुभ गये थे। "जानती हो न बिटिया, ये हमारे सुमंगल भइया थे। का जनमा होगा कोई लड़िका, अपनी मतारी की कोख में। बोलते हैं तो जैसे अमरित बरसता है..."

मन में आया कहूँ,—बस करो मंटू, तुमने इस समय यह क्यों नहीं कहा, कि ये बड़े बुरे आदमी हैं—मीठे, किन्तु दगाबाज़, झूठे। मैं तो तुम पर इस समय बिगड़ना चाहती थी, तुम्हें झूठा साबित करना चाहती थी, तुमसे लड़ना चाहती थी।

लेकिन मंटू अनोखा ही है। अपनी बात की रट लगाये रहा।

"बाबुजी बहुत चाहते हैं। बहू जी तो बेटवा जैसा मानती हैं।"

"हमें तो लगा, बड़े अभिमानी हैं।" मैंने किंचित चिढ़ाने के स्वर में कहा।

"ना ना बिटिया, इतमान छू भी नहीं गया है।" मंटू ने अपने ढीले होठों में बीड़ी दबाकर दियासलाई जलायी, तो कुछ और बोलने की उतावली उसकी आँखों में चमक गयी। मुझे लगा, जाने क्या इसके मुँह से निकल जाए! कोई ऐसी-

वैसी बात ही कह बैठे बूढ़ा। मनमौजी तो है ही, इसका कोई ठिकाना। मैं उठकर अंदर चली गयी। राबिन भी जाने कहाँ था, अब तक। मैंने कमरे की बत्ती जला कर पीछे देखा, तो सहसा मेरे ऊपर दोनों अगले पैर रखने के लिए वह उछल पड़ा...बेचारा राबिन, एक यह है इस सूनेपन का आदी, और एक मैं हूँ कि इसकी पीड़ा समझ ही नहीं पाती।

मैंने झिड़की के लहजे में कहा, "चलो, चलो तो बड़े आये हो प्यार दिखाने!" वह बहुत उदास हो गया और अपनी लम्बी जीभ निकाले, अपनी भारी झुकी हुई पूँछ को और झुकाकर, कमरे में इधर-उधर चक्कर काटने लगा—धीरे-धीरे वह फिर मेरे पास आकर खड़ा हो गया और मेरी ओर देखने लगा। मेरी उपेक्षा उसे असह्य हो रही थी। मुझसे नहीं रहा गया और वहीं फ़र्श पर बिछे कालीन पर बैठकर, मैंने उसे अपनी गोद में सुला लिया। पता नहीं कितनी देर तक उसके मखमली, सुकुमार बालों से मैं खेलती रही। क्या-क्या स्वप्न देखे मैंने...क्या-क्या सोचा, कह नहीं सकती। उसकी गुदगुदी, किन्तु स्वस्थ्य गर्दन को अपनी बाहों में कसे मैं सो जाना चाहती थी। उसके कानों में अपनी सारी व्यथा उड़ेल देना चाहती थी, तभी किसी ने बाहर से मंटू को आवाज़ दी। पहले कोई पुरुष-स्वर था, फिर किसी लड़की की आवाज़...

—कौन हो सकती है? मैं दौड़ी बाहर गयी, तो देखा एक सज्जन मंटू को किसी लड़की का सामान सहेज रहे थे।

"बहू जी से कहना, मैं फिर आकर मिलूँगा। जेत को लेने उसके चाचा आएँगे, अच्छा!"

मंटू सामान सहेजता हुआ हुँकारी भर रहा था और वे सज्जन जैसे पाल्हा छूने आये हों, घर की ओर देखना तो शायद उन्हें असह्य हो रहा था। जल्दी-जल्दी भागे और मैं बाहर आ गयी।

लड़की तो क्या कहूँ, सयानी थी वह जया—सुंदर-सी, सजी-बजी। शरीर के एक-एक अंग को चतुर शिल्पी की तरह तराशकर सजा रखा था। सामान की जाँच-पड़ताल में उसकी व्यस्तता देखकर, मुझे जाने क्यों लगा, यह ज़रूर कोई मास्टरनी है। उसने अब तक जैसे मुझे देखा भी न हो, कुछ पूछना या कहना तो दूर रहा। मैं कुछ आगे बढ़ आयी थी, पर वह झुककर अपनी अटैची उठाने की कोशिश करने लगी, जो होल्डाल के बोझ से पिचकी जा रही थी। मंटू ने होल्डाल हटाया ही था कि वह अटैची छोड़कर सहसा बोल पड़ी, "सुमंगल आया था क्या ?"

"अबहीं तो गये हैं..., बिटिया से पूछो न !" मंटू सामान पर झुक गया पर जया की टेढ़ी गरदन को, जो मेरी ओर अब तक मुड़ ही नहीं रही थी, किसी ने, जैसे मरोड़ कर सीधा कर दिया हो। जाने कैसे, उस दिन नारी का स्वभाव मेरे अंतर में प्रौढ़ हो गया था, जैसे किसी ने पत्थर के नीचे दबी घास पर से रोशनी की आड़ हटा ली हो। मैंने साफ़ देखा, वह मुझे पहचानने की कोशिश कर रही थी,...एक अल्हड़, निरी अनगढ़, लापरवाह छोकरी। घुटने तक लटकी बालों की मोटी-मोटी चोटियाँ, लम्बे कुरते में बेहद शिकन और सिकुड़ा हुआ ऊँचा सलवार। न पैर में जूती, न नाखूनों में

कोई पालिश, न चोटी, न कंघी..., लगा यह सब जया एक ही निगाह में देख गयी थी। क्योंकि उसकी आँखें तुरंत ही अपने रेशमी ब्लाउज़ के पानदार लम्बे गले के, काफ़ी विस्तृत, खुले, चिकने सफेद हिस्से पर लौट गयी थीं, जैसे उसके रोयें अपने ही रूप को देखकर भभर आये हों।

"इन्हें मैंने नहीं पहचाना मंटू !"

"अरे आप इनका नहीं जानतीं ? बहू जी की छोटी बहिन की बिटिया—नीलिमा..."

"अच्छा, अच्छा, तो तुम्हीं हो नीलिमा !" उसने नपे-तुले ढंग की निश्चित हँसी हँसते हुए कहा। जैसे यही एक हँसी हो उसके पास—बस यही।

जी में आया, इस हँसी का सारा श्रेय तुम्हारे ऊपर लाद कर उसके अत्यधिक चतुर मन का पर्दाफ़ाश कर दूँ, और यह भी समझा दूँ कि मैं तुम्हें समझती हूँ, बच्ची नहीं हूँ। पर मौसी का ख़याल कर चुप रह गयी। तभी राबिन आया और जया को देखकर गुर्राने लगा।

"बड़ा फियरफुल हो गया, यह तो..."

"सबके लिए नहीं..." मैंने कह तो दिया, पर मुझे बड़ा पश्चाताप हुआ। यह क्या निकल गया मेरे मुँह से ? मैं बड़ी देर तक सोचती रही, लेकिन ग़नीमत यह हुई कि जया पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

रात सोने से पहले जया की बातों में कई बार तुम्हारा प्रसंग आया—तरह-तरह से, घूम-घूम कर, जैसे बात वहीं टूटती थी। कह नहीं सकती, वह रात कैसे बीती ? क्यों लेती है, यह

नाम यह बार-बार। शर्म भी नहीं आती किसी के बारे में इतनी बातें करते हुए। यह भी डर नहीं कि सुनने वाला क्या सोचेगा !

सारा घर सो गया। रास्ते की चहल-पहल भी जैसे किसी अथाह जल के तल में डूब गयी। बस मैं, और वे सेमल के फूल, जो बीच-बीच में डाल से टूटकर ज़मीन पर चू पड़ते थे, पर मैं तो जुड़ी भी नहीं अभी, टूटने का सुख कहाँ ! ज़मीन पर गिर कर धूल से मिलने का भाग्य कैसा !

मेरी कहानी कल यहीं छूट गयी थी। सोचती थी, बहुत कुछ लिख जाऊँगी। मन में सब कुछ किसी अनदेखी दृष्टि की प्रेरणा से भर गया था, पर एकाएक दरवाज़े की आवाज़ ने सब पोंछ दिया। क्या मैं अपराध कर रही हूँ...अपने को मार रही हूँ ? अगर मैं लेखिका होती और यह कहानी छपती, तो निश्चय ही मेरे चरित्र को उदासीन विशेषण दिया जाता। है भी यह वैसा ही। क्योंकि कोई सामाजिक परिधान भी तो मैं इसे नहीं पहिनाऊँगी ! यह तो लेखक का काम है, जो हर चीज़ को अपने से अलग करके देख पाता है। सुना कलाकार इस दूरी को जितना ही बढ़ा लेता है, वह उतना ही बड़ा हो जाता है। पर मैं वह तो नहीं ही हूँ। सोचती हूँ, यह कितना बड़ा काम है। कितनी बड़ी साधना करता है लेखक, जीवन और कृतित्व की इस खाई को

निरंतर चौड़ा करने में। मैं तो देखती हूँ, मेरे नज़दीक वह खाई और भी कम होती जा रही है। समय उसे और भी पाटता जा रहा है। शायद मैं पास रहकर, तुम्हारे लिए इतनी बेचैन कभी नहीं रही। अब तो उन बातों से अलग खड़ा होना भी सम्भव नहीं है। गणित से आज अगर मैं तुमसे घटा दी जाऊँ, तो हाथ लगेगा एक बड़ा-सा शून्य, जिसे पाकर परीक्षार्थी फूले नहीं समाते। कहते हैं, उन्हें तो बादशाहत करनी थी, नाहक फँसे इस किताबी चक्कर में...

मैं जानती हूँ, आज का कलापारखी मुझे प्रतिभा सम्पन्न और प्राणवान लड़की बताएगा। फिर कहेगा, समाज ने ज़ंजीरें डाल दीं, मेरे पैर में। प्रेमी कोई मेरी जाति का लड़का थोड़े ही था, अथवा लड़की तो तैयार थी और उसके अभिभावक भी, पर इस दहेज की प्रथा का क्या कहा जाए। लड़के के बाप ने बहुत-सा रुपया जो माँग लिया! हमारी मान्यताएँ ही दोषपूर्ण हैं। लेकिन क्या वह 'मैं' होती? कभी-कभी कलाकार के हाथ में पड़कर, चीज़ बिगड़ भी तो जाती है। चाहे सुंदर ही क्यों न दीखे, पर कुछ की कुछ हो जाती है। शायद यही उसका धर्म हो, पर मैं तो निरी दीवानी हूँ। मौसा सदा ही कहते थे, "शादी तो नीलू की ही हामी पर होगी।" मामा किसी की बात ही मानने को तैयार न होते, "नीलम जो चाहेगी, बस वही होगा।"

माँ-बाप की सम्पत्ति इतनी तो थी ही कि किसी दहेज वाले के लड़के को रुपयों से तोल दिया जाता। पर यह तो मेरा ही किया दिया है। मैंने ही तो इन्हें पसंद किया था।

मैंने ही सिर नीचा करके बात मान लेने का संकेत किया था, और ये कितने भले हैं !...नीलू की ख़ुशी ही इनकी ख़ुशी है, ...नीलू का जीवन ही इनका जीवन है।

अभी कल ही की तो बात है, ये आये तो मैं जग रही थी। डाक्टर बहुत नाराज़ होकर गया था।...मैं एहतियात नहीं बरतती, ध्यान नहीं देती, ज़रूर कोई स्ट्रेन लेती हूँ।

हँसी आती है डाक्टर पर, लेकिन इन पर ?...अपनी गोद में सिर लेकर, कल कितनी देर तक रोते रहे ! इन बीमार और ज्वर से तप्त अँगुलियों से इनका चेहरा छूते छूते, जैसे मैं काँप गयी थी। टी० बी० है मुझे, क्षय रोग...छूत...! मैं किसी तरह इनका अनिष्ट नहीं चाहती। मेरी तुम्हारे प्रति तन्मयता देखकर, शायद लोग विश्वास न करें, पर मैं इस शुभ-आत्मा को किसी तरह दुखी नहीं देखना चाहती। ये तो नीलू को अपने सीने में छिपा लेना चाहते हैं—नीलू को...अपनी नीलू को।

कहने लगे, "मेरी खातिर नीलू...मेरे लिए तुम रहो...! मैं उजड़ जाऊँगा। मेरे लिए संसार ही सूना हो जाएगा। समूचा रास्ता काँटों से भर जाएगा। फिर क्या होगा नीलू ? ठीक इस सेमल के सूखे फूलों की तरह, मेरे जीवन का हर रेशा उड़ेगा और तुम्हें ढूँढ़ता हुआ दिगदिगंत में भटका करेगा"...उसी समय तुम्हारे फड़कते हुए, आवेश पूर्ण, फूले नथुने मुझे याद आ जाते हैं। जैसे जीवित रहने की सारी वासना तुम्हारे रक्तिम चेहरे पर उतर आयी हो। "तुम्हारे बग़ैर मैं जी नहीं सकता रानी ! यह मेरा पहला और अंतिम प्यार है। मैंने तुम्हारे मन और शरीर के अतिरिक्त..." तुम्हारा

कंठ भर आता था, आवाज़ घुट जाती थी, और गले की सारी नसें फूल जाती थीं। जाने क्यों, मैं भी बेसुध हो जाती थी, जैसे तुम्हारा रोम-रोम मेरे शरीर का अपना हो जाता था और तुम्हारी सारी देह आवेश में दहकने लगती थी। मैं जानती थी, तुम जो कह रहे हो, वह दृढ़ और निश्चित है, पर वह झूठ और अवास्तविक भी है। लेकिन यह तो कुछ क्षण बाद के विचार हैं। उस समय तो तुम्हारी देह काँपने लगती थी—प्रतिद्वंदी को देखकर आवेश में रोयें फुलाये हुए सिंह की तरह। तुम्हारी नरम और चिकनी बाँहें, जैसे लोहे की छड़ की तरह मज़बूत और ताम्र-वर्ण हो जाती थीं और लिली की पंखुड़ियों-से रक्तिम होंठ, तिमिर-भेदी-शिखा की तरह तपने लगते थे। क्षण ही भर बाद लगता, क्या यही मोम का तराशा हुआ बबुआ दो क्षण पहले मेरे पास था! सच कहूँ, उस समय मेरा मन अपने प्रति आक्रोश से भर जाता था। कहीं इस रूखी देह से तुम्हें खराश तो नहीं लगी! वह सब जो इतने यत्न से बनाया गया है, कहीं बिगड़ तो नहीं गया। मैं तुम्हें देखती रह जाती थी, और अब तो तकिये में मुँह छिपाकर अपने मन की आँखें बंद करने की चेष्टा करने लगती हूँ।

लेकिन यह सब क्या लिख गयी। कहानी बेचारी कहाँ छूट गयी! इसी से तो कहती हूँ कि मुझे क्या शऊर, कथा लिखने का! अगर कहीं यह कहानी छप जाए, तो लोग क्या कहेंगे, मुझे!—मध्यमवर्गीय परिवारों की असफल प्रेमिकाओं का एक गंदा नमूना है यह कहानी।...यही न! पर उन्हें क्या पता कि प्रेम असफल नहीं होता, अगर वह प्रेम है।

सबेरे से जया फोन मिलाती रही...यहाँ, वहाँ...

"...आयें तो कहिए, मैं आ गयी हूँ।

"...किसी से खबर करवा दीजिए।...

"...मुझे जल्दी ही जाना है।...अच्छा, अभी गये हैं? किसी को भेजकर बुलवा लीजिए!"

करीब दिन के चार बजे यह अंतिम बात सुनी थी। कह नहीं सकती, क्या बातें हुईं, पर जया ने फोन रखते हुए पहली बार मेरी पीठ पर थपकी दी और जल्दी-जल्दी तैयार होने लगी। आज सोचती हूँ तो लगता है, उस प्रसन्नता का वर्णन, मुझ जैसी मरीज़ की कल्पना-शक्ति से बाहर है।

हवा जाने क्यों सर्द हो आयी थी, उस दिन—भोर की तरह। कुछ विचित्र-सी मनोहर रोशनी का आभास छाया था। पश्चिम के हल्के, सिंदूरी आसमान को किरणें अपनी रोशनी दे चुकी थीं, पर सूरज का अखीरी गोला पछाड़ खाती हुई, ललछही लहरों में अब भी धीरे-धीरे डूब रहा था। इसी पीठिका में उस नंग-धिड़ंग नटराज सेमल के सिर पर किसी ने लाल फूलों का मौर बाँध दिया था। कुछ अजीब ही विरोधाभास था उसकी शोभा में। जाने क्यों, मौसा की इस ख़ूबसूरत फुलवाड़ी में मेरी निगाहें उस सेमल पर ही बार-बार अटक जाती थीं। मंटू और राबिन, ये दो सहचर मेरे पास ही थे। शायद दोनों को मेरी उदासी का आभास मिल गया था, कह नहीं सकती, पर मंटू जैसे कुछ कहते-कहते रुक जाता था। मैं बाहर निकली ही थी कि मौसी ने पीछे से आवाज़ दी थी, "अरे जूतियाँ तो डाल ले नीलम, ऐसे ही नंगे पाँव घूमती रहती है!"

मैंने लौटकर देखा, मौसी हाथ में जूतियाँ लिए चली आ रही थीं। शर्म से माथा झुक गया पर उनकी ममता का क्या जोड़! रात कितनी देर तक सीने में छिपाये रहीं। तरह-तरह से भरोसा देती रहीं, "देख कल सुमंगल आये तो उससे कहूँ, तुम्हें घुमा दिया करे। मन लग जाएगा, चार दिन में।" मैं दौड़कर जूतियाँ लेने के लिए लौटी ही थी, कि बगल के कमरे से पर्दा उठाकर निकलती जया से जाने कैसे लड़ गयी। देखा कि काजल की रेख से ड्राइंग करके खींची गयी उसकी भवें एकाएक और भी बक्र हो गयीं, उसके बालों की फुलवाड़ी जो बिगड़ गयी थी। चाची कहाँ चूकने वाली! "फिर बन जाएगी जया, नाराज़ न हो, न...न...!" और वे ज़मीन पर गिरे गुलाब को उठाकर उसके बालों में खोंसते-खोंसते हँस पड़ीं, "तुम्हारी तो फुलवाड़ी ही बिगड़ गयी।"

लेकिन मैंने जया को देखा था, ...झीने, चम्पई रंग की साड़ी पर गेहुएँ रंग के कुछ विचित्र-से कट के ब्लाउज़ का ऐसा मेल, पहले मैंने कभी नहीं देखा था। कमर और सीने का चढ़ाव-उतार, गुथे हुए, घुँघरू-से बालों का सानुपातिक वृत्ताकार गोला; ऐसा शृङ्गार कि देखते ही सारी शकल चुभ कर रह जाए!

जया कुछ बोली नहीं, चुपचाप कमरे में लौट गयी।

रह रह कर लगता, जैसे तुम नहीं आओगे।...क्यों आओ, कोई मैंने बुलाया है? तुमने आवाज़ ही से जान लिया होगा कि यह कोई दूसरी लड़की है। फिर अपने पर हँसी आती थी। तुमने मेरी आवाज़ ही कहाँ सुनी। उस दिन तो देखा

भी नहीं ठीक से, फिर तुम्हें मेरी परवाह ही क्यों होने लगी, मैं किस खेत की मूली !

नहीं, नहीं, यह ग़लत है। मैं यह क्या सोचने लगी ! इस तरह के विचार मेरे मन में क्यों आए ?

लेकिन तुम्हारे देर करने से निरंतर बढ़ने वाली अपनी ख़ुशी पर मैं कोई प्रतिबंध न लगा सकी।

धीरे-धीरे शाम झुकती आयी थी और रोशनी की उजास जया के वस्त्रों से दूर होती गयी थी। उसका बार बार बाहर आना, रास्ते की ओर झाँकना, फिर अपने वस्त्रों पर निगाह डाल, कमरे में लौटकर शीशे के आगे खड़ा हो जाना; यह बता रहा था कि उसका रूप तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। एक बार तो मन में आया, मैं भी जाकर..., पर नहीं, वस्त्रों की माया तुम्हें नहीं होगी। यह जया अपने को ही धोखा दे रही है।

मौसी को किसी महिला सेवा-समिति की सभा में जाना था। जाते-जाते उन्होंने मंटू को मेरे लिए जाने क्या-क्या हिदायत दी, फिर जया की ओर मुड़ कर बड़े स्नेह से कहने लगीं, "यह कपड़े उतार दे, वरना इसी तरह उठते-बैठते चौपट हो जाएँगे। सुमंगल को जानती नहीं क्या ? इधर तो वह और भी जिद्दी और फितूरी दिमाग़ का हो गया है। कुछ पता चलता है उसका !"

जया कुछ बोली नहीं और मौसी चली गयीं, पर मुझे जाने क्या दे गयीं। सच कहूँ, तो मैं भी यही सोचती थी, तुम्हारे बारे में। मेरे जीवन की यह नन्ही-सी बूँद किसी अथाह और

निःसीम सागर में ही मिलेगी, जो चाहे अपना अस्तित्व खो दे पर मिटे नहीं। तिल-तिल कर सूखे, पर सूखने का भास किसी को न हो। तुम शायद वही सागर थे, साधारण झीलों की तरह पावस में फफाकर, तपन में सूख जाने वाले नहीं।

लाचार जया अब मेरे सेमल-तरु को ताकने लगी थी, मेरी ओर निगाह दौड़ाने लगी थी। तभी मंटू पीले गुलाब की झाड़ियों से दो अधखिले फूल तोड़ लाया और कहने लगा, "बिटिया तुम भी लगा लो न! बड़ी मेहनत माँगी है, इस ससुरे फूल ने। जज साहब ने जाने कहाँ से इसकी कलम मँगवायी थी। एक दिन खाने पर आये, तो मेरी फुलवाड़ी देखकर लहालोट हो गये। चार कलमें मैंने दीं, तो उन्होंने यह एक मरियल-सी कलम थमा दी। मुदा मैंने जिला ही तो लिया इसे,...लगा लो तुम भी बारों में। हमरे मालिक लोग तो देखने के शौखीन हैं।" मंटू मेरी उदासी से परेशान था। राबिन कूँ-कूँ करता हुआ, कभी मेरे पास, कभी मंटू के पास चक्कर काट रहा था।

"नहीं बाबा, मैं..." मैंने वैसे ही कहा।

"क्या कहती हो बिटिया रानी! कमल चाहे जहाँ रहे, उसकी शोभा में कमी थोड़े ही होती है। बहुत सिंगार-पटार..." मंटू सहसा जया को देखकर रुक गया।

अब मुझे जया पर दया आ रही थी, उसकी आँखें भरी हुई थीं और चेहरा बेहद मलीन हो गया था। वह जाने क्यों धीरे-धीरे आकर, उस टूटी चारपाई पर मेरी ही बगल बैठ गयी, पर चुप, जैसे किसी ने सर्प की मणि ही छीन ली हो। आज

सोचने पर वह सब कितना साफ़ दीखता है! सचमुच वह तुम्हारे समीप कितना दयनीय हो सकता है, जो कहीं से तुम्हारे रास्ते पर उलझन डाले। तुम कोई काम बुरा थोड़े ही करते थे, और करते भी थे, तो उसकी बुराई पर सोचने का अधिकार केवल तुम्हीं को था। अगर कोई कहीं से कुछ कहने की जगह निकाल पाये, तो बस मौसी की तरह कहे "यह सब क्या हो गया, बेटा! क्या यह होना ठीक था?" और फिर जैसे वह यही चाहता हो कि,...मैं क्या जानूँ—तुम तो सर्वज्ञ हो, तुमसे बुराई-भलाई क्या छिपी है? और फिर चेहरे पर ऐसा भाव ले आये कि मैंने तो ऐसे ही कह दिया और उठकर कुछ करने चला जाए। सब ठीक हो जाएगा, अपने ही से। कहीं कुछ गड़बड़ दिख तो जाए! पर जहाँ किसी ने कहीं रोक कर कुछ कहा, तो बस, अगर हो भी रहा है तो कभी नहीं होगा।

तुम्हारी आलोचना नहीं करती, अब करूँगी ही क्यों? लेकिन यह सोचे बग़ैर नहीं रहा जाता कि तुम कितनी विरोधी वृत्तियों के व्यक्ति हो और इसे कोई साधारण नारी समझ ले?—ठीक समुद्र की तरह, कहाँ-कहाँ का पानी आकर मिलता है उसमें, पर उसकी मौलिकता पर कोई असर नहीं। इसलिए आज जया का वह रूप ख़ूब समझ में आता है। उस बेचारी को तो यह समझ कर बैठना चाहिए था कि तुम नहीं आओगे। तुम क्यों आने लगे, अपना सब कुछ छोड़ कर! और अगर तुम आ जाते, तो वह पीड़ा भरी मुस्कान से अपना दुख व्यक्त कर लेती, और तुम बीस बार कहते,

"देर हो गयी न, जया ! तुम बड़ी परेशान हुई होगी। क्या करूँ, ऐसा काम ही आ गया था।" पर वह उत्तर न देती। लेकिन उसने तो केवल एक बात सीखी थी; शायद उसके स्वभाव में ही रहा हो, कह नहीं सकती कि जो कुछ हो दुनिया में, बस तुम्हीं हो। जो यह आदमी चारों ओर घूमते हैं, क्या यह भी कोई आदमी हैं ! और वह जो बेचारा जया को छोड़ने आया था, पता लगा, वह उसका दूर का भाई था। पर क्या वह रास्ते भर बोली भी होगी, उससे !...न... न...बस, पंख लग जाएँ और मैं पहुँच चलूँ उनके पास। बेचारे जब गये, तो लौटकर देखा भी नहीं पीछे, और इसने ! मैं तो देख रही थी न ! मंटू भी इसका साक्षी है कि आँख उठाकर भी पीछे नहीं देखा।

धीरे-धीरे रात हो आयी थी और मैं जया के पास चुप-चाप बैठी थी। रह-रहकर हवा की ठंडक, सिहरन की कोमल, ठंडी अँगुलियों से हमें छू जाती थी। पर उससे भी बढ़कर सुरसुरी इस बात से हो रही थी कि कहीं जया कुछ बात न करने लगे। इस समय कुछ भी बोलेगी तो उसमें तुम्हारा ही प्रसंग होगा, तुम्हीं से वह आवेष्ठित है, बाहर और भीतर—सब जगह उस पर तुम्हारा ही प्रभुत्व है।

कुछ अजीब क्षण थे वे। अगर आज चाह कर भी उन परिस्थितियों का निर्माण किया जाए, तो शायद वह सब संभव नहीं होगा। वह मन की आंतरिक उथल-पुथल, उत्ताल तरंगों की टकराहट और वेदना, वह ताज़ी अनुभूतियों की चुभन; आज सोच कर लगता है, जैसे कोई स्वप्न देख रही हूँ

जया कुछ नहीं बोली और उठकर चली गयी। उसने कमरे को बंद कर लिया। शायद कपड़े बदल रही होगी, पर देर तक कमरा वैसे ही बंद रहा। मैं बाहर घूमती रही। बार-बार लगता कोई आया...यह रिक्शा रुका...यह फाटक खुला ...अरे यह कोई मेरे पीछे ही तो खड़ा है,...पर वह मुझे नहीं, जया को पूछता है। जैसे नीचे से ऊपर तक मैं काँप कर रह गयी थी। आज पहली बार ही तो देखूँगी, तुम्हें। उस पर भी यह...! नहीं, नहीं, मैं इतनी जल्दी अंदर भागी थी कि पीछे घूमकर देखने का साहस मुझमें नहीं रह गया था। लगा, कोई पुकार कर कहीं पूछ न ले, कह न दे कि जया कहाँ है?

कमरे में पहुँचते-पहुँचते मुझे पसीना हो आया था। फिर भी मैंने जल्दी से दरवाज़ा बंद कर लिया और बत्ती बुझा दी। देर तक तकिये में मुँह गाड़े रही। पर बार-बार लगता, अब कोई आया, अब किसी ने बुलाया, ठीक वही आवाज़,...अरे रोती है पगली! मौसी की याद आ गयी क्या?...अरे यह नीलू है, इतनी बड़ी हो गयी...!

जी में आता, धँस जाऊँ यहीं ज़मीन में, जहाँ मुझे कोई न देखे। पर हर आवाज़ पर जी धक से करता और गर्दन अपने से उठ जाती। ठीक मेरी खिड़की के सामने ही पड़ता था, वह फाटक। कोई भी घर में घुसे, मैं यहीं बैठी उसे देख सकती थी। मैं बार-बार अपनी इच्छा शक्ति को तोलती,—नहीं देखना है मुझे! पर फिर आँखें उधर मुड़ जातीं और मुझे अपने ऊपर बड़ी झुँझलाहट आती...मैं इतनी कमज़ोर हूँ, इतनी कच्ची! मैंने ज़ोर से खिड़की बंद कर ली, लेकिन

मेरे हजार कान हो गये थे। एक नन्हीं-सी आवाज़ तक आकर मेरे कानों में गड़ जाती थी! इसलिए मैंने वह सब सुना, जो न सुनने के लिए मैंने कान में अँगुली डाल रखी थी।

बाहर न निकलने की मैंने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली थी। मौसी से कोई बहाना करना होगा, पर वे मानेंगी क्या? इन्हीं सब बातों की उलट-फेर में फँसी थी कि मेरे दरवाज़े पर दस्तक हुई, मौसी थीं। खोला ही था कि कुछ बिगड़ कर बोलीं, "वाह री लड़की, शाम ही को बत्ती बुझाकर क्या करने लगी? अरे, वह जया बेहोश हो गयी है। सुमंगल बेचारा अकेले परेशान हो गया।" और वे मेरा हाथ पकड़कर मुझे लेती चली गयीं।

इस समय, वह पूरा कमरा मेरी आँखों में थम गया है, ओह...काश मेरी स्मृति क्षीण न होती, और मैं इसी तरह तुम्हें देखती रह पाती—लगातार, युग-युग तक।

एक ओर चारपाई पर जया थी और उसके पास ही कुर्सी पर बैठा डाक्टर उसे देख रहा था। मौसा एक नन्हे-से स्टूल पर बगल ही में बैठे थे। और तुम कोने में पड़ी, छोटी आराम कुर्सी के हत्थे के सहारे, अपने हाथों पर सिर टिकाये कुछ सोच रहे थे। उद्विग्नता की जगह एक अनुपस्थिति थी तुम्हारे भावों में। मैं दरवाज़े पर ही ठिठक कर रुक गयी, पर मौसी को देखते ही तुम चुपके से उठ गये, और वे मुझे उसी तरह लिये-दिये तुम्हारे पास पहुँच गयीं। तुम्हारा कंधा पकड़कर कुर्सी में बिठाते हुए बोलीं, "जगा है क्या रात भर का, आँखें लाल हो रही हैं।"

"हाँ चाची, कल बड़ी गड़बड़ी हो गयी। वह अमृता है न! रात जीने से फिसलकर गिर पड़ी और कुछ ऐसी बेतुकी चोट आ गयी कि उसे लेकर हम लोगों को तुरंत अस्पताल जाना पड़ा।"

"अरे वही जो तेरी सहपाठिनी थी।"

"हाँ वही, चाची!" तुमने जैसे चिंता जताते हुए कहा और बिना कुछ कहे, मेरा हाथ पकड़कर कुर्सी में एक ओर खिसकते हुए, बिठा लिया। फिर पता नहीं तुम कैसे थे, पीछे। मैंने नहीं देखा। मैं अपने में सिमटी बैठी रही। लगता, हम किसी समुद्र की अतल गहराइयों में डूबते जा रहे थे... मुझे कुछ भी पता नहीं, वहाँ क्या हो रहा था, और मैं आज अच्छी तरह समझती हूँ कि तुम भी वहाँ नहीं थे। कहीं दूर, किसी चिंता में तुम्हारा मन डूबा हुआ था।

मुझे ख़ूब याद पड़ता है कि मौसी थोड़ी ही देर बाद हम दोनों को बुला ले गयी थीं। और तुम्हें कुछ खिला, मेरे कमरे में जाकर कहा था, "तू यहीं सो रह, जाने कब तक आना-जाना लगा रहे। अरे हाँ नीलम, एक साफ़ चादर और तकिया दे बेटी, क्या मुँह देख रही है खड़ी-खड़ी!"

मारे शर्म के मैं गड़ गयी थी...मेरी चारपाई पर! ...जैसे मुझे कुछ हो जाएगा। उस बिस्तर को कुछ ऐसा छू जाएगा, जो मेरे छुटाये भी कभी नहीं छूटेगा। फिर मैं कैसे सोऊँगी उसपर। तभी मौसी ने मुझसे कहा, "तू मेरे पास सो रहना, हाँ!"

मैं चादर बदलने की सोच ही रही थी कि तुम लम्बे लेटते हुए कहने लगे, "जाओ तुम लोग, अब मैं सोऊँगा।" फिर बत्ती बुझाने के लिए उठ बैठे। इधर-उधर देखा, पर स्विच दिखायी दे, तब न! मुझे हँसी आ गयी थी। तब तक मौसी ने कहा, "देखो कहीं तकिये के नीचे होगी। इस मेरी नीलम का हर काम ही अनोखा है। बहुत सवेरे उठती है न! और उस समय बत्ती जलाये बिना इसका काम नहीं चलता।"

तुमने आँख उठाकर मेरी ओर देखा...पहली बार...! हाँ, पहली ही बार। आँखों ने आँखों को देखा। शायद पहचाना? नहीं, ऐसा नहीं कह सकती। शायद मैं ग़लत कहूँगी। तुमने मुझे केवल देखा था। आँखों की भाषा अब भी अनबूझी थी।

रात मौसी के सीने में मुँह छिपाकर सोई, तो लोक-परलोक के कौन कौन से विचार मन में न आये होंगे। लेकिन सबसे अनोखी तसवीर तो वही थी, जो बार-बार आँखों को रिझाती रही...

—'अरे यह तू है नीलिमा! मैंने तो पहचाना ही नहीं। कैसी लगती है पगली, इस सीधे पल्ले की धोती में?'

मिस कौल मुझसे सटकर खड़ी थीं। मेरा चेहरा रक्ताभ हो आया था। मैं लज्जा और संकोच से गड़ जाना चाहती थी। यह पहली ही तो मुलाकात थी शादी के बाद, इससे!

—'खूब ही आदमी पाया, तुमने नीलम! जैसे कहीं छू ही नहीं गया है, दुनियादरी से।'

—'बच्चा क्यों नहीं कहती, जिसे केवल खेलना आता है!'—मैंने जैसे क्या कह दिया हो?

—'रात को भी?' मिस कौल की बात मेरे दिल में चुभ गयी थी। उसने बड़ी बेरहमी से मुझे गुदगुदा दिया था और मैं किसी घायल हिरनी की तरह तड़फ कर रह गयी थी।

सहसा बुदबुदा कर चाची की गोद में कस गयी और उन्होंने अपने हाथों से मेरा सिर अपने सीने में छिपाते हुए कहा था, "क्या है नीलम! डर रही है क्या?"

मैं बोल नहीं पायी थी। कितनी लजायी थी मैं इस बात से कि आज कह नहीं सकती। फिर कितनी ही स्वप्निल बातें, एक बहुत बड़ी भीड़ लगाकर मेरे मन के कपाट खटखटाने लगी थीं। मैं एक ही से तो एक बार में बोल सकती थी? पर वे कब माननें वालीं। कई खिड़की से कूदकर आ जातीं और कानों में फुस से कुछ कहकर, रोशनदान की संधि से खिसक जातीं।

—'नीलम तेरा साहब तेरी चादर पर सोया है, और तू यहाँ...! क्या बात है रे, लड़ाई हो गयी क्या?'

कोई मटककर कहती,—'वाह री, ऐसी भक्ति भी क्या कि एक क्षण को भी खाली नहीं मिलती!'

—'अभी आयी, देख पूछ लूँ, शायद कोई काम ही हो! जानती नहीं क्या, इनको!' और मैं झपटकर आगे बढ़ जाती।

कभी जल्दी-जल्दी खाना पकाती होती,—'जानती है एक

कौर तो खाना,—बस एक गौरइया का चारा समझो ! पर कब माँग बैठें ?' कभी तुम्हारे पैरों से सटी, फफक-फफककर...

—'नहीं रानी, ऐसी क्या बात हो गयी !...क्या हुआ ? बोलो न !'—तुम कितने घबरा जाते थे।

"क्या बात है, नीलम ! तुम्हें नींद नहीं आ रही है क्या ?" मेरी कसमसाहट के कारण मौसी बोल उठी थीं।

"नहीं मौसी, बड़ा डर लग रहा है।"

"जया की बेहोशी की याद आ रही है, क्या ? छोड़ भी, उसे। तू नहीं जानती, उसमें सनक कम थोड़े ही है। बेहोशी कम, दिखावा ज़्यादा। वह समझती ही नहीं सुमंगल को। बहुत बजने वाली चीज़ को, कभी वह गंभीरता से नहीं लेता और जया है कि बार-बार यही ज़ाहिर कर देती है। चाहती तो बहुत है उसे, पर जब वह चाहे तब न ! उसमें तो जैसे इतना चिकनापन है कि कुछ कहीं ठहरता ही नहीं–कमल के पत्ते की तरह। कब से शादी की बात चल रही है, पर वह है कि टस से मस नहीं होता, और मैं !...ना, बाबा, मैं इसमें पड़ूँ तो सुमंगल जाने क्या कर बैठे ! मैं तो केवल उसी की मर्ज़ी जानती हूँ। बस जो वह कहे...और इसमें शक भी नहीं कि अपनी इतनी गहरी आलोचना करते रहने वाला मैंने कोई दूसरा लड़का ही नहीं देखा। कभी-कभी तो वह निर्दयता की सीमा पर पहुँच जाता है, फिर मैं क्यों कहूँ ! जानती है नीलम,...नीलम...!"

मैं मौसी की बातों में डूब गयी थी। सहसा चौंक पड़ी, तो मौसी ने कहा, "सो रही थी, क्या ?"

"नहीं तो मौसी ! हाँ, क्या कह रही थीं ?"

"अरे इसके घर वाले मुझसे इसलिए नाराज़ रहते हैं कि मैं कहती क्यों नहीं सुमंगल से । भला मैं कैसे कहूँ, उससे ?"

फिर जाने क्या-क्या कहती रहीं मौसी। मैं बहुत पीछे लौट गयी थी,—अपने खुले-रूखे बालों को लपेटकर, तुम्हें अपना प्रोफ़ाइल दे रही हूँ । तुम देख रहे हो,...नीचे देखो नीलम ! हाँ, बस, इसी तरह—दूध का धुला वह चाँद, जो अपनी ही रोशनी में नहाकर अपनी वेणी लपेटे, किसी की याद में बैठा है । तुम भी तो मुग्ध बैठे रहे हो—कितनी-कितनी देर तक ।

तुम्हें मेरा क्या-क्या रुचता था—किस अंग की कैसी भंगिमा, कहाँ की बनावट, कहाँ की रोमावलि, कहाँ की वक्रता, कैसा खुलापन, कैसी झिझक...; कुछ भी बाक़ी नहीं रह गया था । मेरा रक्त, मांस, अस्थियाँ सब में तुम्हारी आँखों का चित्र अंकित है, सबके पीछे तुम बैठे हो ।

कहीं यह न समझने लगे हो कि मैं कितनी बेशर्म थी ? लेकिन नहीं, तुम कभी भी ऐसा नहीं सोच सकते...कभी भी नहीं । अगर ऐसा होता, तो मेरे पैरों को सरसिज कह कर माथे से...! नहीं, नहीं, तुम्हारे मन में कभी खयाल भी नहीं आएगा, ऐसा । मैं जानती हूँ कि तुम्हारी साँसों का कोई एक तार भी मेरे बिना झंकृत नहीं हो सकता । मैं तुम्हें अच्छी तरह जानती हूँ । शायद जीवन पर्यंत मेरे ध्यान ही से तुम्हें फ़ुरसत न मिले । उसी सबको सोचते रहने से छुटकारा न मिले, जो मेरा दाय है । मैं अभिमान ही कैसे करूँ, पर मेरी अकिंचनता ही तुम्हारी बाँसुरी की वह फूँक है, जो कभी मंद नहीं होगी । तुम

होगे, तो मेरा प्यार होगा ही तुम्हारे साथ।...तुम शादी कर लो! भावुकतावश कोई कह तो सकता है पर वह निरा पागलपन होगा।...'प्यार कोई सौदा नहीं नीलम! जो बार-बार किया जाए। सिर्फ वासना तो पशु में ही होती है, मनुष्य तो उससे आगे कुछ और भी चाहता है, कुछ और है उसके पास—एक चेतन हृदय, एक भक्ति, एक सब कुछ अर्पित कर देने की क्षमता; जो उसकी अपनी है, और समर्पण भी कभी बार-बार...'तुम जाने कितनी देर तक बोलते जाते थे—मंथर-मंथर, उदास। नीरव डूब का वैसा चित्र, वैसा अर्णव—तरंग विहीन, समगम, जैसे अथाह जल-राशि के तल में कहीं कोई चंचलता न हो। उफ् अब नहीं लिखा जाता, सीने में कितना दर्द हो रहा है। डाक्टर का इंजेक्शन भी क्या है, जो इतना भी करने की ताकत नहीं दे पाता, और तुम्हारा यह उदास चेहरा...! आज क्यों बार-बार यही चेहरा याद आता है?

कल दो बार बेहोश हो गयी थी। कहीं से निराशा की झलक मिली होगी। शायद मेरा शरीर अब बहुत कमज़ोर हो गया है। अब इससे उदासी भी बर्दाश्त नहीं होती, ख़ुशी की तो बात ही दूर रही। कभी जब ख़ून में गर्मी थी, तो एकाध बार किसी सखी से बात करते करते, अगर एक मिनट के लिए भी तुम भूल जाते तो मुझे बड़ा पश्चाताप हुआ करता था। मैं यही सोचती थी कि मेरा प्रेम बनावटी है. झूठा। मैं घंटों अपने को

कोसती, तरह तरह से सताती। प्रतिज्ञा करके, दिन-दिन भर किसी से न बोलती। कालेज जाती तो ज़्यादातर अकेले रहने की कोशिश करती और इस तरह, अपनी क्षणिक अवज्ञा का अपने से पूरा बदला चुकाती।

लेकिन यह सब क्या कहानी कह रही हूँ। यह तो अपने मनोभाव हैं। इसका किसी को एहसास कराना भी क्या! मेरा हामी होगा ही कौन? प्रेम की इस गहनतम पीड़ा का पक्षधर तो केवल एक ही होता है, और वही अगर सहृदय न हुआ तो कौन इसे समझ सकता है! क्या वह सुधारक समझेगा इसे, जो समाज में विवाह के बाहर स्त्री के मन की कल्पना भी नहीं कर सकता। शायद उसे पता भी नहीं है कि यह विवाह की लाचारी, जो विवाह करने वाले से ज़्यादा उसी की बनायी हुई है और यही वह ज़हर है, जिसे निकालने का काम उसे करना चाहिए। काश, वह लोगों को समझा पाता कि बस जीवन में एक ही बार शादी करो और वह भी अपनी। तुम्हारे बच्चे पशु नहीं हैं। उनके मन का आदर करो, उन्हें मौक़ा दो कि वह खुद अपने लिए साथी चुनें। लेकिन वह तो पशुत्व को ही आदर्श मानता है। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति को सामाजिक परिस्थितियाँ कहकर, वह प्रेम की दीवार खड़ी करता है। मनुष्य को उसके हृदय के बग़ैर देखने की कोशिश करता है। लेकिन यह आलोचना क्यों? आलोचना तो असंतुष्टि का प्रतिफल है, और मैं असंतुष्ट? कभी भी नहीं। इस धरती के एक-एक रजकण ने मुझे प्यार दिया है। आदमी तो आदमी, पशु-पक्षियों ने भी मुझे मोह से ताका है। हवा ने दुलार किया

है, फूलों ने सँवारा है। मिट्टी ने...उफ् इस गाँव की मिट्टी! उमड़ती हुई दरिया की तरह, लहराती हुई जव-गेहूँ की बालें...

डाक्टर ने लाचार होकर मुझे यहाँ भेज दिया है। शायद जगह बदलने से कुछ लाभ हो। हवा-पानी बदल जाए। इस लिए मेरी कहानी का सूत्र इतना टूट गया है। आज कितने दिन हो गये उठकर बैठे, पर मैं इस तरह नहीं छोड़ूँगी। इतनी-सी पीड़ा से ऊबकर, इस काम को अधूरा नहीं रहने दूँगी। कौन जाने मन और भी कमज़ोर हो जाए, तो कम से कम आँखें तो रहेंगी। इसी को पढ़ूँगी। कुछ तो याद आएगा,...ज़रूर याद आएगा।

हाँ, तो शायद जया का प्रसंग था, पीछे। बेचारी चली गयी और सच कहूँ तो मेरी करुणा भी ले गयी, साथ। क्योंकि वह तुम्हें चाहती थी, पर शायद इसलिए उससे भी ज़्यादा कि तुम उसे जानने का कष्ट भी उठाना नहीं चाहते थे। इसलिए जया जब गयी, तो मेरी हो गयी थी। और वही क्यों, उस समय तक वह सब मेरा हो गया था, जो तुम्हें भला लगता था, जिसे तुम भले लगते थे। जिसे कोई न चाहे, वह भी कोई आदमी है। जिस वृक्ष की छाँह में काँटे ऊग आएँ, वह भी कोई छाँह है।

तुम अब रोज़ ही आ जाते, बहुत देर बैठते, कहाँ-कहाँ की बातें करते और चले जाते। मैं समझती, शायद तुम मेरे ही कारण आते हो। पहले तो इतना नहीं आते थे, और मेरा सारा समय सिमटकर उस काल सीमा में बँधता गया, जिसमें तुम मौसी के घर होते थे। मैं उन्हीं क्षणों के लिए जीने लगी, केवल उन्हीं क्षणों के लिए। तुम्हारे जाने के बाद, एक मिनट बीतने पर मैं दूसरे को, आने वाले कल से घटाया करती थी।

सोने और कालेज के समय को जोड़कर, बाक़ी समय के लिए ऐसे काम ढूढ़ा करती, जिससे वह जल्दी बीत जाए और तुम फिर आ जाओ।

लेकिन तुम व्यस्तता का भार सिर पर लादे आते, और कुछ मौसी, कुछ मौसा के सिर पटककर हल्के होते, तो कभी कोने में खड़ी नीलम से पानी माँग बैठते, कभी पढ़ने में जी-जान से जुट जाने का भाषण दे डालते और बहुत ख़ुश होते तो डान्स मास्टर की बातें करते और उनकी अयोग्यता का विवरण देकर मुझे चिढ़ाने लगते।

कभी-कभी जी में आता, तुम कैसे इतना सब बोलते हो! तुम्हें संकोच भी नहीं होता, मेरे लिए यह सब कहते हुए या मेरे आगे ऐसी बातें करते हुए। कभी भी तुम्हारा चेहरा आरक्त नहीं होता, आँखें नहीं झुकतीं और हल्की-सी सिहरन भी नहीं होती। क्या मैं ऐसी नहीं हूँ, जिससे अकेले में, धीरे से तुम कुछ कहो, जो दूसरा कोई न सुने। कहीं कोई अपनी...! मैं सचेत हो जाती, यहीं। शायद तुम मुझे नन्हीं बच्ची ही समझते हो और सहानुभूति की घुट्टी पिलाकर छुट्टी पा जाना चाहते हो। क्या तुम आँखों की अनकही भाषा से अब भी अपरिचित हो। चेहरे पर रह-रहकर उभर आने वाली रक्त की लालिमा से अनभिज्ञ हो? सच, तुम एकदम भोले हो।

मैं कभी-कभी तो झुँझलाकर अपने कमरे में चली जाती और तुम्हारी नन्हीं तसवीर को देखते-देखते फूट-फूटकर रो पड़ती थी। जाने कहाँ से आँसू उमड़ आते, फफाते हुए पहाड़ी सोते की तरह, और तुम्हारी तसवीर, उदास मुझे देखती

रहती जैसे कुछ भी समझ न पा रही हो। कभी लगता, तुम मुझे देख रहे हो, बड़े ध्यान से और कुछ मधुर-सी स्मिति ओठों पर उभर आती। मैं खिल उठती, दौड़ी हुई फुलवाड़ी में जाती और न जाने कितने फूल चुपके से चुन लाती। तुम्हें सजाती, प्यार करती, और फिर घंटों अपने में खोई तुम्हें देखती पड़ी रहती।

दिन इसी तरह बीत रहे थे कि तुम एक दिन जाने कहाँ से भोर ही में आ टपके। अभी घुँघरू बाँधे ही थे, देह में पूरी गरमी भी नहीं आयी थी कि खिड़की पर आ खड़े हुए। देखा, पर सहसा विश्वास नहीं हुआ। उस दिन ईश्वरीय वरदान की तरह लगे तुम।

मंटू खाँसता हुआ अपनी झोपड़ी में उठ बैठा और राबिन गुर्रा कर भूँकने लगा। मैं मारे संकोच के गड़ गयी थी। तुम्हें यह भी पता नहीं कि किसी लड़की की खिड़की से नहीं झाँकना चाहिए! जाने कैसी हो, पर शायद तुम रोशनी देखकर इधर मुड़ गये थे। अभी तो मौसी सो ही रही होंगी, ऐसा ही तुम जानते थे।

उस भोर के आकाश की छत से नीचे तुम कितने बड़े दिखे मुझे, कितने अकेले। भूरी रोशनी की चादर फुर-फुर उड़ने लगी थी बाहर, पर एक अजीब-सा पवित्र सूनापन व्याप्त था, चारों ओर। मैं खड़ी देखती रह गयी थी और तुमने कहा था, "बड़ी साधक है, नीलम तू तो,...हाँ, हाँ, चल, मैं देखूँ तो तुझे क्या आता है!" और तुम हाथों पर ठुड्डी टिकाकर खड़े हो गये। केवल तुम्हारा सिर खिड़की के ऊपर था।

जैसे किसी ने छान दिया हो मेरे पैरों को । पर सहसा किसी ने कानों में कहा, तेरा देवता ही आ गया तेरे द्वार नीलम ! और मैं नाचने लगी थी। पता नहीं मुझे, मैं क्या कर गयी, पर समाप्त करते-करते मैं पसीने में लथपथ हो गयी थी और तुम मौसी के साथ मेरे तखत पर मुझे बैठे मिले थे। मौसी अपने आँचल से पसीना पोंछकर मुझे अपने पास बैठा चुकी थीं। अब तुमसे बातें करते-करते मेरे पैर ऊपर लेकर उसे दबाने लगी थीं।

"अब तो इसके लिए किसी अच्छे उस्ताद की ज़रूरत है ! बहुत अच्छा नाच लेती है और भाव-भंगिमा पर भी खासा अधिकार हो गया है। मैं तो जानता ही नहीं था कि यह इतनी गुणी है," और तुमने मेरी आँखों पर कसे मेरे हाथ ढीले कर दिये थे।

"थक गयी क्या ?" तुमने कहा। जाने क्यों माँ बोल पड़ी मेरे कानों में—"चल मालिश कर दूँ !" और फिर मेरा मन भटक गया।

तुम जाने कहाँ-कहाँ की बातें कर रहे थे,..."मौसा क्यों इन झमेलों में पड़ते हैं।...किसी को परमिट मिले, न मिले। मैं तो किसी से कह नहीं सकता...लोग भूखों मर रहे हैं। बड़ी तकलीफ़ है चाची, लोगों को और हम स्थितियों को ठीक से देख भी नहीं पाते,...जो जितना झूठ बोल लेता है, जितनी बेईमानी कर लेता है; वही इस समय अच्छा बना हुआ है।... मुझे तो इन कार्यकर्त्ताओं से नफ़रत होती जा रही है। ज़रा-सा भी संयम लोगों में नहीं रह गया है। मेरा तो लिखना-पढ़ना सब इन लोगों के चक्कर में छूट गया। दंग मैं इस बात से रह जाता हूँ कि वे लोग, जो संयम और तपस्या के साथ

देश-सेवा के लिए महात्मा जी के साथ आये थे, वही आज नन्हें-नन्हें स्वार्थों के लिए इस तरह मुँह काढ़े रहते हैं कि मैं उन्हें ठीक से पहचान भी नहीं पाता। कभी उनकी पहले की तसवीर आँखों में आती है, कभी आज की... ।"

फिर कुछ देर कोई नहीं बोला था, या बोला भी हो तो मैंने नहीं सुना। मैं तुम्हारी कनपटियों पर विचारों की तीक्ष्णता के कारण उभरने-मिटने वाली रक्तचाप की अरुणिमा का चमत्कार देख रही थी। अभी-अभी एकदम गरम तवे-सा जलता तुम्हारा शरीर, अभी कितना ठंडा हो गया,..."गाँधीजी ने कोई व्यापक सामाजिक दर्शन नहीं दिया चाची ! वैयक्तिक परिष्कार की धारणा पूरे समाज के उत्थान में एक सशक्त इकाई तो बन सकती है पर वह सुस्थिर मानवता के लिए विकासशील चरण-चिन्ह नहीं छोड़ सकती। पीछे आने वाले जन के लिए तो यही सब कुछ है—परम्परा, लोक-धर्म, त्याग-तपस्या; सब कुछ। वैयक्तिक आचरण का नियमन करने वाले सुधारक को जीवन के अंत तक साथ नहीं बना रहना चाहिए। वह इंसान को बौना बना देता है, चाची ! कुछ न कुछ तो हर आदमी का अपना होता ही है, और यही अपना उसकी विशिष्ट देन है, समाज को...।" जाने कितनी गहराई से बोल रहे थे तुम। जैसे कोई आदर्श नहीं, अपने हृदय की बातें खोलते जा रहे थे। चाची भी चूकने वाली न थीं, "लगता है, तू आज रात भर यही सब सोचता रहा है। कोई बात हो गयी क्या ?" वे उठ खड़ी हुईं और तुम्हारा हाथ

Kfqr

पकड़कर, तुम्हें ऐसे लेती चली गयीं, जैसे कोई अपने छै महीने के बच्चे को, अपनी मरज़ी से कहीं लिये चला गया हो।

मैं वहीं पड़ी-पड़ी, बड़ी देर तक सोचती रही थी। एक बार मन में आया, जाकर देखूँ, तुम क्या कर रहे हो, कहाँ हो ? ऐसा तो नहीं कि अभी इधर-उधर करके तुम किसी तरह यहीं आ जाओगे और आज धीरे से मुझसे कुछ कहोगे। बताओगे कि उस दिन तेरे बिस्तर पर सोते-सोते मैंने एक बड़ा मनोहर सपना देखा, नीलम ! और तुम्हारी आँखों में भावी जीवन की झाँकियाँ तैरने लगेंगी। मैं उन सब में अपने को देखूँगी, पर सपने की बात तुमसे पूछने का साहस न कर पाऊँगी।

मैं यही सब सोचती रही। बहुत देर तक तुम्हारे बोलने, हाथ-मुँह धोने आदि की आहट लेती रही। पर उस नींद निगोड़ी को क्या कहूँ, जो उस दिन, सुबह ही आँखों पर आ बैठी थी, और बहुत देर तक कितने ही मन भावने रंगों के पंखों से मुझे सहलाती रही थी। लेकिन, वह सुनहरी नींद आज कहाँ उड़ गयी। किस देश को चली गयी कि आज उसका वायु-मार्ग भी कल्पना की आँखों में नहीं समा पाता। कितना सोचती हूँ कि मेरी आराधना फलवती क्यों नहीं हुई, क्यों परवान नहीं चढ़ी यह कामना की बेल, तो कभी-कभी अपनी उपासना पर संदेह होने लगता है। विशेषतः इस समय, जब कोठी की इन बड़ी-बड़ी खिड़कियों से जीवन के अजस्र स्रोत को निरंतर प्रवहमान देखती हूँ। सुबह ही सुबह, भारी भरकम हलों को अपने कंधों पर उठाये, बैलों को हाँकते जाने वाला किसान, कल को कभी कल भी तो नहीं समझता, जैसे

वह आया ही नहीं उसके जीवन में; बस आज और आने वाले दिन की मांसल-चिन्ता-रेखा, उसके माथे पर निरंतर जीने की ओजस्वी ऊर्ध्व-वाणी की तरह मुखर होती रहती है।

ये कितने सबेरे उठकर आ जाते हैं, "नील, ये गाँव के कमकर मज़दूर भी अजीब होते हैं। अरे देखो तो खिड़की से, वह धनीराम जा रहा है। इसी की बीबी वह है साथ, सिर पर दौरी धरे, कितनी हँसती जा रही है! और कल ही तुमने देखा, उसकी आँखें कैसी फूलकर कुप्पा हो रही थीं। कहती थी, 'मैं तो मुँह झौंस दूँगी मुये का, जो अब हाथ उठाया'।" ये कहते जाते और मैं आँख फाड़कर उसे देखती रह जाती हूँ। बैसवाड़े की मेरी कोट की खिड़कियाँ और बैस-ठाकुरों की बस्ती का दक्षिणी हिस्सा, जिसे वे लोग गर्व से 'सोने की सिवान' कहते हैं, मेरी आँखों में झूलने लगती है।

—दशहरे की वह शाम! रानी बिटिया के दर्शन को आयी हुई किसानों की भीड़! नज़राना! दही की खाभियाँ! "...बिटिया लक्ष्मी है, लक्ष्मी!" और तुम...'इनकी पूरी ज़िन्दगी ही बदलनी होगी नीलम! ये ही हमारे समाज की रीढ़ हैं। हिन्दुस्तान में, किसी ऐसे सामाजिक उत्थान की कल्पना ही करनी भयानक भूल होगी, जिसमें किसान का जीवन पीठिका में न हो। किसान-सभ्यता के विकास में, भारतीय कृषक के व्यक्तिगत श्रम को मान्यता देकर, मशीन को केवल सहायक के रूप में रखना होगा। लोग भावुकता और सहानुभूति के चश्मे लगाकर गाँव को देखना चाहते हैं। किसान के संस्कारों में सड़ने वाले नासूर पर इत्र का फाहा

लगाकर, उसे अच्छा करना चाहते हैं।" मेरी आँखों की क्षणिक उत्सुकता पल ही भर में डूब जाती है और ये चिन्तित होकर ऐसे उखड़ जाते हैं जैसे किसी नन्हें पौधे को साँप ने फूँक मार दी हो।

"कैसी तबीयत है नीलम, कहीं दर्द हो गया क्या?" ये मेरा हाथ अपने हाथों में लेकर सहलाने लगते हैं और चम्पा कमरे के बाहर ही से आवाज़ देती है, "बाबू जी पानी गैरम हो गया है, ले आऊँ!"

ये हाथ-मुँह धोकर, दवा के इन्तज़ाम में लग जाते हैं और मैं किसी बंजर प्रदेश की एक मात्र प्यासी नदी की तरह यहाँ से वहाँ भटकने लगती हूँ। कुहासे की इस झम्-झम् बारिश में कभी केवल शब्द ऊपर आते हैं और कभी बैलों के हाँकने की आवाज़, बकरियों की मिमियाहट और बच्चों की किलकारियाँ। लेकिन यह तुम्हारा चित्र कौन आँक जाता है, इस झीने परदे पर! ठीक वैसी ही मुद्रा, मुड़ी हुई अँगुलियों पर रखी हुई ठुड्डी,—कभी वैसी ही मधुर मुस्कान, वैसा ही आक्रोश, वैसी ही बच्चों की-सी चपलता, पर फिर यह सब बिगड़ जाता है; क्षण ही भर में वायु के झोंके इसे मिटा देते हैं और धूप की किरणें इन्हें पी जाती हैं।

उस दिन बहुत देर तक सोती रही थी। पता नहीं कैसे यह हो गया, पर इतना स्मरण है कि चाची कुछ बुदबुदाती हुई कमरे

में घुसी थीं और मुझे इस तरह सोते देखकर, प्यार भरे गुस्से में बोलती गयी थीं, "वाह री नीलम, समय का भी कुछ ध्यान है पगली! दस बज रहे हैं और तू इस तरह सोती पड़ी रह गयी। कैसा जी है?"

वे मेरा माथा छूते-छूते चौंक पड़ी थीं, "अरे तुझे तो बुखार है रानी!" वे मेरे तखत पर बैठ गयीं और झुँझलाहट में, जैसे मुझे ही अपना सबसे नज़दीकी पाकर, यहाँ-वहाँ की बहुत सारी बातें कहने लगीं।

शायद इन्हीं बातों से तुम्हारा-मेरा पहला परिचय हुआ। वरना मैं भी ऐसी नहीं कि यह पूछती कि तुम हो कौन? और न कोई अपने से मुझे तुम्हारा पता ही बताता।

मौसी कहती जा रही थीं, "देख नीलम, मैं कौन-सा दुर्व्यवहार करती हूँ, सुमंगल से। आखिर कौन बेटा बैठा है मेरी छाती पर, जिसके लिए मैं मरूँगी और उसे बेगाना बनाये रहूँगी।"

मैं उन्हें उत्तर ही क्या देती। बस चुपचाप उनका मुँह ताकती रह जाती थी और वे ऐसे धाराप्रवाह बोल रही थीं, जैसे मैं ही तो सब जानती हूँ। लेकिन मौसी की उलझन देख कर और इस लालच से कि बात तुम्हारे ही बारे में होगी, मैंने पूछा, "मौसा ने कुछ कहा क्या मौसी?"

"सुना नहीं तुमने, कहते हैं, 'तुम घर का पचड़ा क्यों खोल बैठती हो सुमंगल के आगे, वह ऐसे बाप का बेटा है, जिसने यहीं शहर के मकान छोड़कर, सारी ज़ायदाद लोगों को बाँट दी। इतनी बड़ी ज़मींदारी पर लात मार देना कोई

मामूली बात नहीं थी।' लेकिन मुझसे उससे क्या मतलब क्या मुझे लेना है उसकी ज़मींदारी !"

मौसी मेरा हाथ अपने हाथों में लेकर सहलाती रहीं, फिर जैसे अनजान ही में कहने लगी हों, "माँ भी इसकी घरफूँक है नीलम ! मुझसे छोटी है, पर क्या मजाल जो उसकी समझ में उसके फ़ायदे की बात आ जाए। यह जनमा, तो दो-तीन महीने के बाद ही इसे मेरी गोद में डालकर जेल की हवा खाने चली गयी। मैंने बहुत समझाया, बहुत कहा, पर अपनी बुद्धि से काम वह क्यों लेती ?

"तब से सुमंगल मेरा अपना ही बेटा है। आज भी यह साहब इतना बिगड़ते हैं पर उसके सामने मुँह खोलकर बोल भी नहीं पाते और अगर कुछ कहें भी तो मैं जानती हूँ, वह मेरी ही बात ऊपर रखने की फ़िक्र सबसे ज़्यादा करता है, लेकिन मैं क्या कहूँ तुमसे..."

उनका गला भर आया था। शायद मौसा ने कुछ कड़ी बात कह दी थी। मैं उठने को हुई, तो मौसी ने मुझे सुला दिया और मेरा माथा सहलाने लगीं।

"बाप के मरने के बाद उसकी माँ ने गाँव की कोठी और बचे-खुचे बाग़-बगीचे बेच कर उन्हीं पैसों से हरिजन बच्चों के लिए एक आश्रम बना लिया। वह वहीं रहती है। सुमंगल से उसे बेहद प्यार है और यह भी उसे प्राण से ज़्यादा मानता है, पर दोनों ऐसे निर्लिप्त कि जैसे दो दुनियाँ के अपरिचित निवासी हों। शहर के पाँच मकान किराये पर हैं, पर वह किराया आता भी है या नहीं, मैं नहीं कह सकती। ग़लती मुझसे यही

हुई है कि मैंने दो-चार बार तुम्हारे मौसा से बस इतना ही कहा कि वे सुमंगल को समझायें—शादी-ब्याह की बात करें।"

मौसी की आँखों से आँसू बहने लगे थे। मैं भी अवाक् थी, जैसे किसी ऐसे लोक में पहुँच गयी हूँ, जहाँ मनुष्य का जीवन भयमुक्त हो जाता है। पर उस समय कुछ भी समझ में न आता था। मैं क्या कहूँ, मौसी को कैसा उत्तर दूँ, क्योंकि वे रह-रह कर मेरी ओर देखने लगतीं और उनकी आँखों से आँसू बहते जाते।

"इसके माँ-बाप को देखकर कोई कह ही नहीं सकता था कि ये दुनियादार दम्पति हैं। एक दम एक दूसरे के प्रभाव से मुक्त, और सबसे बड़ी बात तो यह कि किसी भी एक के मन में इसका कोई मलाल नहीं, कोई शिकायत नहीं। मैंने तो इन्हीं आँखों से सब कुछ देखा है। दोनों कभी-कभी रात-रात भर बातें करते रह जाते। एक दूसरे को जी-जान से प्यार करते, पर अलग होते या दुनियावी आचरण पर पैर रखते तो इतने मुक्त कि जैसे एक दूसरे को जानते भी न हों। पति से कुछ भी बिगड़ जाए, वह पत्नी नहीं जानती थी और पत्नी चाहे जो निश्चय करले, पति उसमें नहीं बोलता था।"

मेरे सामने तुम खुलते जा रहे थे, ठीक उसी तरह, जैसे सूरज की पहली किरणों के प्रभाव से कमल की पंखुड़ियाँ एक-एक कर खुल रही हों, जैसे उस रहस्यमय हल्की हरी पत्तियों के नीचे का शुभ्र प्रदेश और पवित्र-पीला कमलबन्द... सच प्राण! तुम एक दम वही थे। तुम्हारे हृदय को मैंने खूब टटोल कर देखा था, पर उसमें कहीं तो कलमष होता!

मौसी अपनी बात कहती जा रही थीं, "तुम्हारी माँ से इसकी माँ की बहुत पटती थी ! दोनों के मन में बड़ी-बड़ी इच्छाएँ थीं। तुम दोनों को लेकर कभी वे क्या-क्या सोचती थीं...!"...क्या सोचती थीं वे, क्या चाहती थीं...? मैं अपने ही में गड़ गयी थी। ...क्या शादी..! मेरी शादी...? मैं इस लायक़ होती क्या ?—नहीं, नहीं, माँ ! तुमने एक दम ठीक नहीं सोचा था।

मैं परेशान हो गयी थी पर मौसी कहती जा रही थीं, "यही तो बात है नीलम, मैंने उसे ज़रा-सा समझाया और वह बुरा भी नहीं मान रहा था कि इन्होंने दूसरे कमरे से सुन लिया और उसके जाते ही जल-भुन गये। मैं उसका यहाँ आना भी बंद करना चाहती हूँ। मैंने ही उसे उसकी अपनी कोठी में रहने को विवश किया। कहने लगे, 'तुमने अगर यह न कहा होता कि अब तो तू ही है सुमंगल, यह सब घर-द्वार और ज़मींदारी तो तुम्हारी ही है, तो वह कभी यहाँ का रहना न छोड़ता।' मैंने एक दिन हँसी-हँसी में इतना ही कहा था कि सुमंगल थोड़ा घर-द्वार देखा कर बेटा ! अब तो तुम्हीं को सँभालना है, लेकिन यह बार-बार इसी बात का हवाला देते रहते हैं। कहते हैं, 'वह समझेगा चाची-चाचा मेरा स्नेह तोल रहे हैं। शायद हमारे इतने पास वह इसीलिए रहता है कि हमारी जायदाद लेना चाहता है।' मैं मानती हूँ कि मुझसे ग़लती हो गयी पर आज तो मैंने कुछ भी नहीं कहा।"

वे बार-बार पिछली बात याद करके दुखी हो जाती थीं। और मैं तड़पकर रह गयी थी। जैसे मौसी बड़े प्रेम से मुझे

किसी ऊँची चट्टान के किनारे लाकर, मुझे एकाएक खड्ड में झोंकना चाहती हो। आज इतने दिन बाद भी, वह सब कितनी सफ़ाई से मन की ऊपरी सतह पर तैर कर आ जाता है। शायद मैं तुम्हारी माँ की तरह भी न बन पाती। मन की आंतरिक साधना में अपने को इतना भी न तपा पाती कि तुम्हें मेरे अतिरिक्त कोई और देखे भी, आँख की ओट करने की बात तो दूर रही।

उस दिन की बात ध्यान से नहीं उतरती। बैसवाड़े की कोट की अखंड शांति में, जब नहानघर से तुम बार-बार पुकारते, "नीलम कुरता-पाजामा नहीं रखा यहाँ ? मैं गंदे कपड़े पहने लेता हूँ !" मैं पशोपेश में पड़ गयी थी। कैसे कहूँ कि तुम तौलिया लपेटकर बाहर आ जाओ ! तुम बराबर पुकारते जाते, और मैं दरवाज़े पर खड़ी निरुत्तर-सी कुछ अजीब कौतूहल से सोचती रही थी।

"कपड़े बाहर तैयार हैं, तौलिया लपेट कर आजाइए !" बस इतना ही तो...? हाँ, इतना ही। मैंने कितनी देर में कहा था, और मेरी आवाज़ कितनी काँप रही थी ! शायद कई शब्द छूट भी गये होंगे, बीच से।

तुम निकले, तो मैं बाहर ही खड़ी थी। देखकर हँसने लगे। फिर कहा, "जल्दी बताओ, कहाँ हैं कपड़े ?" तुम मेरे पीछे-पीछे चलने लगे थे। मैंने तुम्हें पापा के ड्रेसिङ्ग रूम में पहुँचा दिया था। नीले रंग से पुती, सारे कमरे की दीवारें,

बड़े-बड़े शीशों से ढकी थीं। तुम्हारी कितनी शक्लें हो गयी थीं! "और हर एक के पीछे यह कौन लड़की है नीलम!" तुमने मुस्कराते हुए पूछा था।

मैं क्या उत्तर देती, उस समय। और अब भी तुम्हें क्या बता सकती हूँ कि वह कौन-सी लड़की थी, जो तुम्हारी छाया की तरह तुम्हारे पीछे उस एक दिन दिख गयी थी। उसे दिखना तो नहीं ही चाहिए था। मेरा सारा उत्साह ठंडा हो गया था। सोचती थी, पापा के इसी कमरे में कभी तुम्हें अपने हाथ से कपड़े पहनाऊँगी, बाल ठीक करूँगी और तुम्हारी बगल में खड़ी होकर, अपने को देखूँगी। कितनी रातों मैंने यह योजना बनायी थी। कितनी मुश्किल से आज आँखें उठाकर, तुम्हें देखा था, जैसे संज्ञा विहीन होकर, किसी भावना को देख रही हूँ।

तुमने कहा था, "चलो, मैं आता हूँ।" वह कमरा बंद हो गया और मेरा मन मसोस कर रह गया था। जी में आता, अपना सिर लड़ा दूँ उसी दरवाज़े से।

फिर मेरी कहानी कहाँ से कहाँ पहुँच गयी। शायद एक सिरे से कह देने में यह सीधी बनी रहती और मुझे पढ़ने में भी सुविधा रहती, पर यह तो कहानी न होकर, मेरे सोचने का ढंग बनती जा रही है। जब जो मन में आता है, लिख जाती हूँ। मौसी के प्रसंग से, मेरा वर्तमान जीवन कितना दूर पड़ गया है और बीच-बीच में तुम्हारी बातों का सिलसिला उसी

तरह उभर आता है, जैसे किसी धार में भँवर पड़ जाते हों। मैं क्या कहूँ, मुझमें इतनी शक्ति ही नहीं कि पूरी कहानी को एक साथ सोच सकूँ। कोशिश बहुत करती हूँ, पर सिर में चक्कर आने लगता है। आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है और लगता है, जैसे धुंध का कोई मोटा पर्दा पड़ गया हो, चारों ओर।

इस समय केवल एक बात याद आती है, और वह है, मेरे उस बुखार के सम्बंध में, जब तुम चाची से बात करके चले गये थे और मैं सोती रह गयी थी।

मेरा बुखार उतरा नहीं। कई दिनों के बाद, डाक्टर ने बताया था, 'पैरा टाइफॉइड' है।

मौसा सीधे कचहरी से आकर मेरे कमरे में बैठ जाते, और देर तक मुझसे बातें करते रहते। रोज़ सोचती, कुछ तुम्हारे बारे में कहेंगे, बताएँगे कि तुम मिले थे..., तुम्हें मेरी तबीयत का समाचार ही नहीं मिला। तुम नाराज़ हो रहे थे कि तुम्हें कहलवाया क्यों नहीं गया। लेकिन वह क्यों होने लगा? भौतिक पीड़ा और उलझन से अपने व्यक्तित्व को दूर रख कर दुनिया की समस्याओं पर विचार करना, तुम्हारी अपनी सूझ है, गाँधीवादी दर्शन में। तुम किसान के ज़ख्म पर नश्तर लगाने की बात सोच सकते हो, पर अपने घाव को समाज के आगे ढाँप कर उसकेऊपर इतना मोटा परदा डाल लेना चाहते हो कि उसे कोई देख भी न सके। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि ज़ख्म की सचाई का अहसास उसी को हो सकता है, जिसने ज़ख्म का दर्द भुगता हो। तुम क्यों आओगे प्रकृति के समीप,

उसके मुक्त आचरण के पास,...मैं सोचती रह जाती थी। मन में आता, तुम आओ मेरे पास, तो लड़ पड़ूँ।

इसी तरह कई दिन बीत गये थे। बुखार उतरा ही नहीं। मौसी चिन्तित हो गयीं। मौसा सारे दिन परेशान होने लगे। उसी बीच गाँव से तुम्हारी चिट्ठी आयी थी, "चाची, मैं यहाँ आ गया हूँ। मन बहुत उखड़ गया था। किसी तरह लगा ही नहीं, वहाँ। चाचा से कहना, मैं जल्दी ही लौट आऊँगा। तुम बुरा न मानना, बिना बताए ही चला आया।

"नीलम के लिए कोई अच्छा उस्ताद ढूँढ़ना होगा, लौट कर देखूँगा, पर उसे अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए। उस दिन मैं आ रहा था तो वह सो गयी थी। कमरे में झाँक कर देखा था।"

मौसी पत्र पढ़ते-पढ़ते हसने लगीं, जैसे तुम्हारे बिना बताए जाने का गुस्सा मेरे इस प्रसंग ने धो दिया हो, "...भला किसी का ध्यान तो आया!" वे पत्र मोड़ते-मोड़ते, मेरी कनपटियाँ सहलाने लगी थीं जो इस समाचार से सिन्दूरी हो उठी थीं। आँखें खुशी के मारे छलक आयी थीं। कहीं देख न लें मौसी यह सब। मैंने करवट बदल ली थी और बार-बार यह याद करने लगी थी कि उस दिन मैं कैसे सोयी थी। सहसा, मैंने हाथ नीचे करके अपनी धोती ठीक कर ली। ब्लाउज खींचकर अपने पेट को ढँक लिया, और हाथ से बालों को सुलझा लिया।

मौसी पूछ रही थीं, "क्या लिख दूँ उसे कि तुम बीमार हो?"

"नहीं, नहीं, मौसी!" मेरे मुँह से निकल गया था, पर मैं सोचती रह गयी थी कि भला उन्होंने क्या समझा होगा!

क्या वे जान गयी होंगी कि मैं अपनी बीमारी का समाचार देकर, तुम्हारी आत्मशांति में खलल नहीं डालना चाहती! शायद उन्होंने यहाँ तक न सोचा हो, लेकिन उन्होंने पत्र का जवाब लिखकर, मुझसे यह क्यों बताया कि, "मैंने सब लिख दिया है। यह भी लिख दिया है कि तुम उसे याद कर रही हो। देखो, आता है कि नहीं, पत्र तो कल ही मिल जाएगा।"

मैं कुछ बोली नहीं, लेकिन मौसी ने मुझे वहाँ लाकर खड़ा कर दिया था, जहाँ से मेरी सचाई की, मेरे प्यार की, परीक्षा होने जा रही थी। तुम आओगे ज़रूर। ऐसा हो नहीं सकता कि पत्र पाने के बाद, तुम एक मिनट भी वहाँ रुक सको।

इसी तरह एक दिन बीत गया था और दूसरे दिन की हर गाड़ी, तुम्हारी गाड़ी बन गयी थी। जाने कैसे इतना दूरस्थ स्टेशन मेरे कानों में बस गया था!...यह सीटी हुई, आयी ट्रेन!...तुम ज़रूर उतरे होगे इससे, और अब आते ही होगे। पर क्षण ही भर बाद, अगर कोई रिक्शा घर से गुज़रता होता तो उसमें तुम्हारे होने का भ्रम नसों में बिजली की तरह दौड़ जाता...पर नहीं, इसपर कैसे आओगे?...अभी तो ट्रेन आयी है। कम से कम दस मिनट तो स्टेशन पर ही लग जाएँगे और पन्द्रह-बीस रास्ते में। मन में आता, भाग कर स्टेशन पहुँच जाऊँ,...तभी मौसी आतीं और हँसती हुई कहतीं, "अरे अभी कल ही बुखार उतरा है, चुपचाप पड़ी रह। वरना वह आएगा तो क्या कहेगा?"

मैं शरमा जाती, फिर चुपचाप लेट कर अपनी झेंप मिटाने लगती, लेकिन जैसे ही मौसी जातीं, मेरे मन पर तुम्हारे न आने की उदासी दिशा-दिशा से आकर छा जाती।

61130

एक बार धीरे-धीरे उठी। मौसी का अंदाज़ लेकर, मौसा के कमरे में घुस गयी और रेलवे की समय सारिका उठा लायी। फिर कमरे का दरवाज़ा बंद करके देखती रही।...इस समय कोई गाड़ी नहीं,...रात एक बजे!...बहुत रात हो जाएगी...बड़ी अँधेरी रात होती है। सड़कें भी तो सूनी हो जाती हैं। कैसे आओगे ऐसे में? लेकिन तुम्हारा भी कोई ठीक है, शायद स्टेशन से सीधे यहीं आ जाओ। उस समय सारा घर सोता होगा। मैं ही दरवाज़ा खोलूँगी और तुम्हें अपने बिस्तर पर सुला कर, तुम्हारे पैरों के पास बैठी रहूँगी। क्या तुम्हें नींद आ जाएगी? क्या मुझे उसी तरह बैठी छोड़कर तुम सो जाओगे?

मेरा सारा शरीर आज भी वह सब सोचकर सिहर उठता है। लेकिन उस दिन तो मैं अशक्त हो गयी थी। अपने पास तुम्हें सोते देखने की कल्पना मात्र से कितना रोमांच हो आया था, कितनी पिघलन हो गयी थी, मन में। तुम्हारी तेज़ नज़रों से सारा शरीर बिंध कर रह गया था। मैंने तकिये में मुँह छिपा लिया था, तभी मंटू खाँसता हुआ कमरे के सामने आ गया था। मेरा संगी राबिन भी पूँछ हिलाता हुआ कमरे में चक्कर काटने लगा था। मैंने सिर उठाते ही दोनों को देखा, तो लगा, जैसे मेरा कमरा भर गया है। मैं उठ खड़ी हुई। राबिन को पकड़कर प्यार करने लगी। मंटू खड़ा मुस्कराता रहा। फिर हाथ का गुलदस्ता देते हुए कहने लगा, "बिटिया, आज आँख बहुत फड़क रही है। लगता है, सुमंगल भइया आवइयाँ हैं।" उसकी भेद भरी दृष्टि मेरे चेहरे पर थम गयी थी। मैं उस

दिन उसे देख नहीं पा रही थी। गुलदस्ता लेकर मैंने गुलदान में डाल दिया और राबिन को पास खींचने लगी। पर मंटू खड़ा रहा। मैं सोचती थी, वह चला जाए तो राबिन से पूछूँ कि क्या मंटू सच कह रहा है! पर मंटू स्वयं ही बोल उठा, "मेरी बात पर बिस्सास न हो तो राबिन से पूछ लो, बिटिया!"

मैं बहुत ही लज्जित हो गयी थी। सारा शरीर खून के तेज़ दौरे के कारण जलने लगा था। एक अजीब-सी चुनचुनाहट चारों ओर फैल गयी थी। रोम-रोम में महीन काँटे चुभ गये थे। मैंने जल्दी में ड्राज़ से एक रुपये का नोट मंटू के हाथ में थमाया, और वह हँसता-मुस्कराता चला गया था। फिर राबिन से मेरी चलने लगी। मैंने पूछा, "क्या सच कहता था मंटू?" तो वह उछल-उछल कर अपने दोनों पैर मेरे ऊपर रखने लगा। क्षण भर को कुछ ऐसा लगा कि मैं कुछ और की और हो गयी हूँ। इस लम्बे बुखार का कोई भी ध्यान नहीं रह गया था, मुझे। तभी मौसी बिगड़ती हुई कमरे में घुसीं, "नीलम, अब बहुत हो गया। क्या फिर पड़ने का इरादा है?"

मैं चुपचाप तखत पर बैठ गयी, जैसे सेंध पर धर ली गयी हूँ। वे राबिन को डाँट कर बाहर कर आयीं और मेरे पैरों पर चादर डालकर बाहर चली गयीं।

उसी दिन शाम मुझे फिर बुखार लौटा। फिर न जानें कितने दिन तक बेसुध रही। वे दिन कोरे काग़ज की तरह खाली पड़े हैं। पता नहीं, कहाँ थी मैं, किस लोक में? इसलिए यह भी न जान सकी कि तुम कब आये! जब मैंने अपनी अगल-बगल लोगों को पहचाना, तो उनमें तुम भी एक थे।

बहुत ही मुर्झाए हुए...आँखें जैसे कुछ खोज रही थीं, मन जैसे, कहीं भाग रहा था—अस्त-व्यस्त, बढ़ी हुई दाढ़ी, गंदे कपड़े, मैं देखती रह गयी थी, और तुम्हारी पुतलियों के चारों ओर पानी की कोई चमकदार रेखा दौड़ गयी थी।

मौसी सब कुछ बता गयीं, "बीमारी में तुम केवल सुमंगल को ही पहचानती थी। एक मिनट को हटा नहीं कि चिल्लाने लगती थी। सन्निपात हो गया था, तुम्हें नीलम! यह तो सुमंगल की कहो कि रात-रात भर बैठा रह गया इसी स्टूल पर। एक टक तुम्हें देखता रहा। मैं थक गयी, तुम्हारे मौसा तो तुम्हारे बकने-झकने से दुखी होकर भाग ही जाते थे, पर सुमंगल को जैसे काठ मार गया था, निश्चल यहीं बैठा रहता, न बोलता, न जाता कहीं।"

उस दिन चादर में मुँह ढके, बहुत देर तक रोती रही। मौसी ने बहुत समझाया। मौसा कई बार आये, पर मुझे लगा, जैसे सारा संसार ही मेरे लिए सूना हो गया है। मेरा आत्मीय कोई नहीं है।...क्यों तुम बैठे रहे इतनी इतनी देर तक? क्यों अपने स्वास्थ्य को ऐसा बना लिया? मैं मर ही तो जाती! मेरे ऊपर दया करते हो! मुझे भी भारत का किसान और दया की पात्र नारी समझते हो। मुझे तुम्हारी कृपा नहीं चाहिए। मुझे किसी की कृपा की ज़रूरत नहीं। अगर आज मेरी माँ जीवित होती...! मैं सोच ही रही थी कि तुमने विचार तोड़ दिया। जाने कहाँ से आये थे! कोकटी के लम्बे कुरते के बटन वैसे ही खुले थे। बाल बेढंगे बने हुए, जैसे जल्दी में नहा कर निकलते ही दो कंघी मार कर भाग आये हो!

"कैसी तबीयत है ?" तुमने मेरा माथा छुआ, और लौटने को हुए कि मैंने पीछे खिसकते हुए कहा, "बैठो यहाँ !"

तुम क्षण भर को देखते रहे। फिर मुझसे सटकर बैठ गये। ओह...वह स्पर्श आज भी मेरे माथे पर अंकित है। तुम अपना हाथ मेरे शरीर के दूसरी ओर टेक कर, मेरे चेहरे पर जिस तरह देखने लगे थे, वह आज भी किसी चिरंतन सत्य की तरह मेरी साँसों का हार बना हुआ है।

धार अकुला कर चट्टान को उखाड़ फेंकेगी, आज। मैंने जी कड़ा करके पूछा था, "मुझे नन्हीं बच्ची ही समझते हो क्या ?"

लेकिन, तुमने कुछ भी उत्तर नहीं दिया था। पल ही भर में तुम्हारी आँखें आँसुओं के घेरे में छिप गयी थीं, और तुम जल्दी में धोती का खूँट आँखों पर लगाये, बाहर चले गये थे।

सहसा सृष्टि की हर संज्ञा, हर क्रिया, उस दिन मेरे लिए अर्थपूर्ण हो गयी थी...सिर्फ हवा ही नहीं, उसका चलना और बंद होना भी...सिर्फ मिट्टी ही नहीं, उसका होना और न होना भी...सिर्फ फूल ही नहीं, उनका खिलना और मुरझाना भी। तुम पैठते जा रहे थे, अंदर और अंदर, जैसे अतल गहराइयों में कुछ घुसता जा रहा था—प्राण से प्राण, और अंत से अंतस्थ का चिर प्रतीक्षित मिलन हो रहा था। फूलों से लदी सेमल की डालें, हवा के झूले पर मनमाना पेंगें भरने लगी थीं। तृण-तृण पर ख़ुशी के पाँव थिरकने लगे थे। रोम-रोम की सिहरन कल्पना की पकड़ से ऐसे निकल जाती, जैसे

किसी अनाड़ी के हाथ से कोई चंचल पक्षी। प्रकृति का पूरा क्रम ही बदल गया था, मेरे लिए।

आज सोचने पर कितना विचित्र लगता है, वह सब, जैसे सुदूर से आया कोई भीषण तूफ़ान सब कुछ उड़ा ले गया हो और बचे-खुचे अवशेष को मैं अपना सब कुछ मानकर, सीने से चिपकाये पड़ी हूँ।

ये बार-बार कहते हैं, "नीलम क्यों उदास रहती हो, काहे की चिन्ता है तुम्हें, क्या बच्चे की?" मेरे भीतर एक अजीब व्यंगात्मक हँसी की अनुगूँज उठती है, और सूखे होठों पर थोड़ा-सा खिंचाव पड़ जाता है। बार-बार यह अधूरा वाक्य कानों में गूँजता रहता है और मैं सोचने लगती हूँ—कितना अच्छा होता वह बच्चा! तुम्हारा नाक-नक्श, तुम्हारा स्वभाव, तुम्हारी विचारशीलता...कैसा लुभावना होता वह चाँद-सूरज का लल्ला! कितनी गहरी अनुभूति होती उसके प्यार में, कितना मौन होता, कितना आग्रह...! मेरा मन नाच उठता है। सूखी छातियों में दूध की चुनचुनाहट भर जाती है। क्या कहूँ, इनसे! शायद इन्हें मालूम है कि इस बात का उत्तर कोई स्त्री क्या दे सकती है। इसलिए कहते चले जाते हैं, "तुम्हें यह सब नहीं सोचना चाहिए! जीवन में और भी बहुत कुछ पाने के योग्य है।" जी में आता है कहूँ, "क्या वह सब संतान के बराबर है?"

शीबू ध्यान में नाच उठता है। धुनी हुई लाल रुई की तरह, फूले-फूले गाल; मैं उसे जी भरकर चूमती और गोद में लिए घंटों बैठी रहती।

तुम बताते थे कि उसकी माँ तुम्हारी सहपाठिनी थी। शायद जया की बीमारी के दिन उसे ही चोट आ गयी थी और तुम कितने चिन्तित हो उठे थे। कैसी अनोखी लड़की थी, वह। मैंने तो आज की किसी भी लड़की को, अपने साथ के पढ़े लड़के से, इतनी गहरी आत्मीयता प्रदर्शित करते नहीं देखा है। और वह भी, जब वह विवाहित हो। भला उसका आदमी भी क्या सोचेगा! पर वे दोनों थे ही विचित्र—ठिगने-ठिगने क़द के साँवले रंग में दोनों की मूरत ईश्वर ने अपने ही हाथ से गढ़ी थी। कुछ अजीब ही चमक थी उनकी आँखों में—शोख़ी, चंचलता और शरारत से भरी हुई हिरनी की तरह दोनों रह-रहकर, एक दूसरे की ओर देखते, और मुस्करा देते थे।

परिचय के पहले तुमने बताया था कि दोनों साम्यवादी हैं, तो मुझे बड़ी उलझन हुई थी। एक बार मन में यह संदेह भी हो गया था कि तभी इस तरह के सम्बंध रखने में पति-पत्नी इतने एक मत हैं। वरना कोई पति पत्नी के सहपाठी को कभी मित्र बना सकता है! और तुमसे उसका सम्बंध भी क्या हो सकता था। कहाँ तुम एक प्रतिष्ठित गाँधीवादी परिवार के युवक, कहाँ वह एक मामूली कम्यूनिस्ट। शायद अपनी इसी धारणा के कारण, मैं उन्हें देखना चाहती थी। इसलिए उस दिन अपनी आलोचक वृत्ति की सारी तिक्तता लेकर, तुम्हारे साथ उस नन्हें मकान की ओर मुड़ गयी थी।

सामने ही बैठक था। रोशनी जल रही थी, पर वहाँ कोई नहीं क्षण भर को मैं वह कमरा देखती रह गयी थी। मामूली

कपड़े के पर्दे और कुर्सियों के बहुत सुंदर कवर, बहुत ही हल्का थोड़ा-सा फर्नीचर, दो-तीन तसवीरों और कुछ एक डेकोरेशन-पीसेज़ से पूरा कमरा ऐसा सजा था कि उसे देखते ही मन में एक अव्यक्त खुशी की लहर दौड़ गयी थी। शायद इस पूरी व्यवस्था में—कमरे में रखी विभिन्न वस्तुओं और उनके रंगों में ही यह प्रभाव छिपा रहा हो; कह नहीं सकती।

तुम चुप मुझे देख रहे थे। शायद मेरे मन के भावों की झलक तुम्हें मिल गयी थी, तभी बगल के कमरे से आवाज़ आयी..."हर दम मज़ाक सूझता है, तुम्हें। जाओ मैं नहीं बोलती। यह बत्ती क्यों बुझायी, तुमने...!" फिर तुरंत बत्ती जल गयी, शायद हमारे आने की आहट मिल गयी थी। एक अठारह-बीस बरस की नितांत हँसमुख लड़की—शायद अमृता ही थी यह, परदा उठाकर प्रसन्नता के वेग से दौड़ी हुई कमरे में आ गयी। किसी सुखांत नाटक की अभिनेत्री-सी मुझे देखते हुए, मेरी ठुड्डी पर हाथ लगाकर, कहने लगी, "अपने शहर में तो इतनी सुंदर लड़की नहीं थी, सुमंगल! कहाँ से उठा लाये?" और खिलखिलाकर हँस पड़ी। फिर कहने लगी, "देखो, ये साहब शरमा रहे हैं। बाहर निकलने की हिम्मत नहीं हो रही है।"

उसी समय अमर हँसता हुआ आया और हम सब कुर्सियों पर बैठ गये थे। वे दोनों जी खोलकर हँसते रहे, फिर अमृता ने कहा, "जानते हो यह क्या कर रहे थे, वहाँ?"

"मैं कहता हूँ, यह पति-पत्नी का निजी मामला है। तुम कुछ भी नहीं कह सकतीं।" वह अमृता के मुँह पर हाथ लगाते हुए बोला।

तुम हँसने लगे थे और मैं संकोच में डूबी जा रही थी।

"तो क्या तुम कह सकते हो?" अमृता बोली।

"बिलकुल, हमारी परम्परा के अनुसार पत्नी को गूँगी होना चाहिए, गूँगी।" उसने इस तरह मुँह बनाकर कहा कि हँसते-हँसते हमारे पेट फूल गये, फिर अमृता उठकर बगल के कमरे में गयी और तुरंत ही एक पैराम्बुलेटर ठेलती वापस आयी।

"अरे इसमें कोई बच्चा है, क्या?" मैं एकाएक बोल पड़ी और उसे देखने के लिए उठी ही थी कि अमृता ने शीबू को मेरी गोद में डाल दिया था। कितना प्यारा बच्चा था, वह। आज यह सारा का सारा जो मेरी दृष्टि-सीमा में आ रहा है, सब शीबू की ही तसवीरों से भर गया है।

वे दोनों नौकरी करते और हर महीने कुछ पैसे बचाकर जमा करते जाते थे। उस दिन अमृता ने बताया था—"आज यह गाड़ी खरीदी बच्चे के लिए। बाज़ार भर छान डाला, पर कुल ले-देकर सफ़ेद एक यही मिली। घर लाने पर यह कहने लगे, "तुम बैठो इस गाड़ी में, मैं टहलाऊँगा।" और हँसते-हँसते लोट-पोट हो गयी। "कहाँ मैं, और कहाँ यह पैराम्बुलेटर! बेचारा जवाब ही दे जाएगा।"

फिर हम लोग देर तक हँसते रहे। कुछ इधर-उधर की बातें होती रहीं, पर सब घर ही के आस-पास की। चलते-चलते

अमृता ने कितनी प्रसन्नता से कहा था, "अब शीबू भी हमारे घूमने का साथी हो जाएगा।" सहसा उसकी आँखों में मनुष्य का सारा प्रकाशमान भविष्य उतरा आया था।

मैं आज भी वे आँखें नहीं भूल पाती। उस घर की हवा, आज भी मेरे मन से लगी हुई है। मैं जब-जब उन दोनों से मिली, तब-तब यही लगा कि जो जीवन सामने है, उसी में रमकर जिओ! प्रसन्नता और मंगल से उसके रोम-रोम को रच दो। जैसे कोई अपना विशिष्ट धर्म था, उनका, जो उन्हें प्रेरणा देता था। मंगल की कोई कल्पना थी, उनके पास, जो उनके भावी सपनों में हमेशा नये रंग भरती रहती थी। वे कुछ पाने को बढ़ते जा रहे थे, निरंतर, और हम...?

रोज़ ही अपने को खोते गये थे। लालसा की एकांतिक कोठरी में हमारा मन सिकुड़ता-बटुरता गया था। ये बहुत-बहुत कहते हैं कि, "तुम्हारे होने से बच्चे की कमी नहीं खटकेगी, नीलम! तू ठीक हो जाती तो बहुत कुछ कर लेते।" लेकिन क्या मैं अच्छी भी हो सकूँगी? रोग की भयानक पकड़ से छूटने का न बल है, न साहस। बुखार बढ़ता जा रहा है, खाँसी बेहद आने लगी है और डाक्टर कहता है, दाहिने फेफड़े में भी घाव...! उफ़...यह कहानी भी पूरी नहीं कर पाऊँगी, क्या?

मन बहुत अकुलाता है। रह-रहकर मृत्यु के बादलों का शोर कानों में भर जाता है, पर मैं लड़ूँगी, इससे। जीवन की

सच्चाइयों से जूझते-जूझते मैं थक गयी हूँ, इसलिए इस शाश्वत वास्तविक से भी लोहा लूँगी। कम से कम उस समय तक के लिए, जब तक मेरे हाथ हिल सकते हैं, वरना मैं अपने को ही क्या उत्तर दूँगी! क्या मैं झूठी थी उस दिन, जब तुम न जाने किस तरह भटकते हुए आधीरात गये लौटे थे। सिर्फ़ इसलिए कि नीलम अकेली होगी।

मौसा-मौसी और तुम मिरजापुर के राजनीतिक सम्मेलन में गये थे। माघ-पूस की ठारी में ऐसा भीषण तूफ़ान और ऐसी बारिश शायद देखी न गयी थी। हर हर करके हवा चलती, तो पक्के मकानों की दीवारें भी हिल जातीं। ऊपर से घनघोर बरसात और बादलों की कलेजा कँपा देने वाली गरज।

मंटू, राबिन और मैं गुरमुटाये, अपने ही कमरे में पड़े थे। हाथ को हाथ नहीं सूझता था। पेड़ों के गिरने से बिजली के खम्भे टूट गये थे। टेलीफ़ोन की लाइनें खराब हो गयी थीं। घर में मोमबत्ती भी नहीं थी, जिससे रोशनी की जा सकती।

तुम भीगते-भागते आये थे। रजाई में बैठे-बैठे हमारे शरीर सिकुड़ गये थे, तो भला तुम्हारी क्या हालत हुई होगी!

मैं पागल-सी घर भर में भटकती रही थी। कैसे करूँ कि तुम्हें थोड़ी गरमी पहुँच जाए। कहीं ऐसा न हो कि तुम बीमार पड़ जाओ। मैंने किसी तरह अपनी एक धोती निकाल कर दी थी। पता नहीं, वह कौन-सी धोती थी और कैसी! दियासलाई खोजकर, किसी तरह आग जलाई। महरी अपने घर चली गयी थी, इसलिए खाने के कमरे से खोजकर कुछ खिलाया था। फिर तुम्हारा हाथ पकड़ कर धीरे-धीरे तुम्हें अपने कमरे में ले गयी

थी। प्रलय के उस भीषण अंधकार में तुम मनु की तरह श्रद्धा का पीछा करते रहे थे। कई जगह हम एक दूसरे से टकराये, कई जगह गिरते-गिरते बचे, पर कितनी ख़ुश थी मैं, उस दिन !

उस एक दिन तुम कितने मेरे थे, पर सिर्फ़ उसी दिन। मेरे लिए वास्तविक तुम वही हो...ठीक वही हो भी सकते थे, पर तुम थे नहीं, वह। उस अंधकार और तूफ़ान में शायद तुम अपने से क्षण भर को अलग हो गये थे, इसी कारण तुम मेरे थे, मैं तुम्हारी थी। मेरी माँग में सिंदूर भरा था, पाँवों में मेंहदी रची थी। सारा कमरा ख़ुशबूदार फूलों के गुच्छों से भरा था। मेरे सुहाग की वह भयावनी रात थी। तुम्हारा ठंडा पानी में भीगकर सिकुड़ा हुआ शरीर, कितना गरम हो गया था। बाहरी दुनिया के शोर-शराबे डूब गये थे। काले बादलों के गुच्छे कमरे को छोपकर बैठ गये थे।

✓उस निबिड़ अंधकार में तुम आये थे, मेरे प्राप्य ! शायद प्रकाश की किरणों में मैं नहीं पा सकती थी तुम्हें, जो तुम वास्तविक थे, क्योंकि मैं बुद्धि की महिमा से नितांत विरत थी; केवल हृदय, और उसकी प्यास तभी बुझती, जब तुम सूख जाते। लेकिन अपनी सम्पूर्ण महिमा से मंडित तुम ही मुझे प्यारे थे। शायद इस प्राण से भी ज़्यादा, जिसे आज तिल-तिलकर जला रही हूँ। मुझे डर था कि कहीं मेरे अपनत्व की आराधना देवता को दूर न कर दे ! बीच ही में इसकी आवृत्ति उसे ऊबा न दे ! तब क्या होगा ? वह तो नितांत भद्दा मृत्यु-दंड होता। मुर्दे का डोलना कितना भयानक लगता ! आज कम से कम

आस्था तो बची हुई है। तुम मेरे लिए तुम तो बने हुए हो, चाहे मैं जैसी हूँ।

लेकिन उस दिन का भिनसार बिलकुल नया था। तुम अभी सो ही रहे थे और मेरी नींद टूट गयी थी। मैं ऊपर खिसककर सिरहाने के सहारे, उठँग गयी थी और बड़ी देर तक चिड़ियों की चूँ-चूँ और धीरे-धीरे उठने वाले जनरव की पृष्ठभूमि में, किसी ऋषि-बाला की तरह तुम्हें देखती रही थी फिर धीरे-धीरे माथे पर बादलों की तरह छाये तुम्हारे बालों को एक किनारे कर, उसे चूम लिया था। और सिर में धीरे-धीरे अँगुलियाँ चलाती रही। आँखों की सुकुमार बरौनियों को छूती रही।

कभी सेब के पके फलों से लदी डालें, कभी आम के बड़े-बड़े फलों के भार से झुकी टहनियाँ मेरे आगे नाच उठती थीं। मैं तुम्हारी ओर देखती और अपने रेशमी लिहाफ़ में, अपनी पिंडलियों पर तुम्हारी भुजाओं की फाँस और साँस लेने के कारण तुम्हारे सीने का दबाव महसूस करती, तो मेरे रोयें नीचे से ऊपर तक भभर आते। बर्फ़ के माथे को छूकर आयी हवा, तीर की तरह दीवार के सीने तक को थरथरा जाती, पर मुझे उसकी शीतलता पर भी संदेह था। रोम-रोम पसीने की नन्हीं बूँदों से बिंध रहे थे। शीबू का गुलाबी नन्हा-सा मुखड़ा और नन्हें-नन्हें हाथ-पाँव आँखों में झूल रहे थे, और अमृता की वह बात !...शीबू भी अब हमारे घूमने का साथी हो जाएगा...मेरे कानों के पर्दों से बार-बार टकरा रही थी।

तुम कुछ हिले, भुजाओं की फाँस ढीली हुई। अनजान हाथों ने लिहाफ़ को ऊपर खिसकाया। फाँस कमर पर आ पड़ी और मैं फूल की तरह लहरों की अर्घ चढ़ गयी। लिहाफ़ की नीली झील की गहराई में एक स्वप्निल तूफ़ान आ गया। किश्तियाँ टकरा गयीं। परतों में सूराख होते गये और पानी धीरे-धीरे भीतर चढ़ने लगा—मृत्यु से अंतिम संघर्ष हो जैसे; क्षण-क्षण के लिए प्राण जूझने लगे। सारे शरीर में बिजली दौड़ गयी। साँस टकराने लगी। दबाव—पानी का दबाव! असंख्य पर्वतों का भार। दहकते हुए आग के बगूले। सनसनाते हुए विष के बाण। लेकिन सहसा सब थिर हो गया। झील शांत हो गयी। पानी जम गया। तूफ़ान रुक गया। पूरब के आसमान में सूरज की ललाई उतर आयी। एक दम सबेरा हो गया। तुम्हारे सीने में छिपा चेहरा सरक गया। हाथों की फाँस ढीली हो गयी।

अभी ये दवाइयों के लिए शहर गये, तो चम्पा से वह बक्स मँगवा कर खुलवाया है। वह कश्मीरी सिल्क की हल्की-पीली साड़ी, जिसे उस दिन अँधेरे में निकालकर तुम्हें पहनाया था; उसी तरह दुहरी पड़ी है और यह मेरी चुनरी...इसे चुनरी ही कहूँगी मैं!...शिकन भी नहीं छूटी इसकी। सब कुछ जैसे का तैसा इन तहों में सुरक्षित है। मैं आँख फाड़-फाड़कर उसके एक-एक रेशे को देखती हूँ, फिर उठाकर तकिये पर रख लेती हूँ और उसी पर माथा गाड़े देर तक पड़ी रहती हूँ। इन्हें सूँघती हूँ, सीने से सटा लेती हूँ,...भर देते हो, बार-बार, प्रिय करुणा की किरणों से, क्षुब्ध हृदय को पुलकित

कर देते हो...,आँखों से आँसू ढुलकने लगते हैं ।.कहाँ होगे तुम ? किस तरह रहते होगे ? कहाँ भटकते होगे ? दिन भर की थकन के बाद लौटकर, कोठी के उदास कमरों की दीवारों से तुम ज़रूर पूछते होगे कि नीलम तो नहीं आयी, मेरे लिए कोई आदेश तो नहीं छोड़ गयी ?...आदेश, मेरी बातों को आदेश ही कहते रहे तुम ! काश मैं आदेश दे पाती ! मन एकाएक उखड़ गया है। जी में आता है, भाग आऊँ तुम्हारे पास, या सब कुछ तोड़-फोड़ दूँ। दर्पण पर काला रंग लगा दूँ। आँखों में सुई चुभो लूँ। पैरों को लँगड़ा कर लूँ। अपनी निजी कुंठा को लेकर अश्वस्थामा की तरह, समाज विरोधी होकर, सृष्टि की छाती पर घृणा बनी घूमूँ।

वह घृणा मेरे लिए एक स्वप्न थी, ठीक उसी तरह, जैसे मेरा-तुम्हारा उपरोक्त स्वप्नगत संयोग, पर वह उस घृणा की तरह क्षणिक और मेरे लिए अपरिचित नहीं है। उस घृणा पर हँसी आती है, लेकिन उस संयोग-स्वप्न की सत्यता पर, आज भी मन में विश्वास गहरा है। तुम्हारे प्रेम की दैहिक अभिलाषा को नकार कर मैं उसे रक्त-मांसहीन नहीं बनाऊँगी, न उसे मानवीय सम्बंध के अमरत्व पद से भ्रष्ट ही करूँगी; क्योंकि वह मेरे जीवन में आज सत्य से भी बड़ी यथार्थ बनी हुई है।

उस रोज़ भी मैं रात भर जागती रही। मंटू बार-बार गैलरी में खाँसता, राबिन छोटी-छोटी आवाज़ पर गुर्राता और

मैं चाची की चारपाई पर लेटी वह सब देखती रह गयी थी। क्षण भर को भी आँखें नहीं लगी थीं कि देखा, तुम चले आ रहे हो।

"कहाँ भाग गयी, मुझे उस अँधेरे में छोड़कर।" तुम अपनी लुंगी देखकर मुस्कराने लगे थे। "कोई दूसरा कपड़ा नहीं मिला, जो इसे खराब कर दिया।"

"खराब...!" मुझे हँसी आ गयी थी। "यह मेरा सबसे बड़ा धन बन गयी।"

मैं कुछ और न कह सकी और फ़र्श पर देखने लगी थी। तुम लौट गये। मुझे भी वहीं बुला लिया, और हम दोनों बहुत देर तक एक दूसरे के आगे बैठे रहे—मौन, अनदेखे। कभी अँगुलियाँ बिस्तर पर डोलतीं, कुछ लिखतीं, मिटातीं; कभी कोई तसवीर बन जाती, कभी केवल शून्य। सहसा हवा तेज़ हो जाती, रोशनदान के सूराख़ से टकराती और कोई काँपता हुआ स्वर कानों में फुसफुसा जाता। "मैं तुम्हें प्यार करता हूँ...,सच...! तुम्हीं मेरी अभिलाषा हो, नीलम !"

मैं अकचका उठती।

"क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं, कुछ कहा क्या तुमने ?"

"नहीं तो !"

"नहीं, सचमुच नहीं ? मुझे क्या हो गया, यह !" मैं तुम्हारे पैरों पर माथा रखकर रोने लगी थी। मेरी आँखों से आँसू निकल रहे थे, पर तुम्हारे हाथ उठ न सके।

मैं क्या समझती नहीं थी? इतनी नासमझ नहीं थी कि इतना भी न देख पाती। मंटू बताता था कि वह जब भी तुम्हारे पास गया, तो तुम चर्खा चलाते मिले। आज कल जब भी कोठी में रहते हो, यही किया करते हो। बाक़ी समय सर्वोदय-समाज के बच्चों के स्कूल में ही बिता देते हो। दूध की जगह पानी की दलिया खाने लगे हो। हर इतवार को नीबू-पानी ही पर रह जाते हो।

मंटू कितना दुखी होकर कहता था "बिटिया आप ही समझाइए, भइया को! सारा घर नास हो रहा है। महराजिन इभर-उभर रोती थी कि कुछ भी मुँह में नहीं डालते। भला मालकिन पूछेंगी तो वह क्या जवाब देगी। छोटी रानी उसी के ऊपर छोड़कर इतनी निफिकर रहती हैं।

"जया बीबी का बियाह ठीक हो गया, एक सेना के आदमी से। सुमंगल भइया कहते थे कि ठीक ही हुआ। वही उसके लिए उचित भी था।

"अमृता रानी दलिया बनाकर लायी थीं। बहुत डाँट-फटकार गयी हैं, भइया को। रतन बाबू भी साथ रहे, नन्हका बबुआ भी। सुमंगल भइया का वज़न घट गया है। इसी पर बहुत समझाते रहे कि तन्दुरुस्ती के बिना किसी एक का भी उदय नहीं हो सकता, सर्वोदय की तो बात ही दूर रही। फिर अमृता रानी ने छोटे बबुआ का माथा छुआकर भइया से वादा कराया, और महराजिन को बहुत समझा-बुझा कर गयीं।"

तुम मुझसे रोज मिलते। कहाँ-कहाँ जाते, बातें करते पर कभी भी वह सब मेरे सामने न आता, जो मंटू बता जाता।

लगता वह तुम्हारे एकांत का एक-एक क्षण बटोर कर मेरे आगे इसलिए रख दे रहा था कि, यह तुम्हारी ही फसल है बिटिया रानी, इसे बचाओ! नहीं तो सूख जाएगी। फिर पछताना ही हाथ लगेगा।

तुम अपने से निरंतर लड़ रहे थे। मुझे अपने भीतर से निकालने के लिए, अपने को तरह-तरह से सता रहे थे। क्या यह समाज से भागकर, आत्मसंस्कार द्वारा वैयक्तिक शांति प्राप्ति का मार्ग नहीं था? क्रियात्मक राजनीति से भाग, सड़ाँध को और भी सड़ने के लिए छोड़कर, अपने लिए एक पवित्र स्थान खोजने की बात नहीं थी? मुझे ज्ञात था कि तुम रचनात्मक कार्यों में लगोगे, और हुआ भी यही। क्या मैं ऐसी अग्राह्य थी, क्या मेरा जीवन इतना निरर्थक था कि उसे अपने नज़दीक आता देखकर, कोई भयभीत हो?

काफ़ी देर तक हम ऐसे ही बैठे रह गये थे—भूत और भविष्य दोनों से कटे हुए, विरत, निःसंग, जैसे जो थे, हमी थे, और हम भी कुछ नहीं, सिर्फ़ दो संज्ञाहीन चेतना के वृत्त मात्र। पता नहीं वह ध्यान कैसे टूटा था। शायद महराजिन ने चाय के लिए कहा था या मंटू ने किसी के आने की खबर दी थी, कुछ ठीक याद नहीं पड़ता, पर इतना स्मरण है कि मैं रसोई में जाकर तुम्हारे लिए नाश्ता ठीक करने लगी थी। कच्चे, भिगोये हुए चने के अधभुँजे दाने, पतली दलिया और दूध तुम्हें बहुत प्रिय था। मौसी बहुत खुश होकर यही सब तो

बनाती थीं, तुम्हारे लिए। मिर्च-मसाले और तले हुए खाने को देखकर तुम डरते थे।

मेज़ पर बैठते-बैठते तुम मुस्कराये थे। मैंने नेपकिन दिया तो हँसकर कहने लगे, "इस सब की क्या ज़रूरत थी, नीलम! मैं तो थोड़ा नीबू का शर्बत लेकर ही दोपहर तक रह जाता हूँ।"

"आज से मैं भी खाना-पीना छोड़ दूँगी।"

"ना, ना, ऐसा करना मत। तुम्हें कितनी मेहनत पड़ती है।"

"क्यों, क्या शरीर का धर्म दुनिया में दो हो सकता है! तुम भी तो काम करते हो!"

"हाँ, लेकिन कभी-कभी शरीर आत्म धर्म के लिए साधा जाता है।"

"तो क्या, आत्म संस्कार की इस दुर्बोध साधना से सारा समाज ठीक हो जाएगा?"

"अपना मन तो यही कहता है।" तुमने किंचित कड़ाई और अलगाव से कहा था। निश्चय ही तुम मेरी बातों का संकेत समझ रहे थे। शब्दों के पीछे तैरने वाले भावों को देख रहे थे। इसलिए तुम्हारी बात बड़ी कड़ी लगी थी, मुझे। जैसे किसी तने की विशालता, लता के नन्हें हाथों में समाने से इन्कार कर रही हो। दूध का घूँट गले के अंदर उतारते-उतारते मेरी आँखें भर आयी थीं। अमृता के यहाँ का पहला दिन याद आ गया था,... "जाओ मैं नहीं बोलूँगी...", क्या मैं उस तरह कुछ कह सकती हूँ, तुमसे! क्या मेरा उतना भी अधिकार हो सकता है, तुम्हारे ऊपर! मैं कटी हुई पतंग की

तरह, आसमान में बेसहारा उड़ती रहती थी। कक्षा में, घर में, मौसी के आगे, मौसा के सामने—हर जगह एक निरावलम्ब टकराहट होती, हर जगह ग़लती दिखती, हर जगह शिक्षा पाती।

सिर्फ़ अमृता ही शरण थीं मेरे लिए। वह हँसती हुई आती और शीबू को मेरी गोद में डालकर, जाने कहाँ चली जाती। घर के लोगों से बातें करती और जाते-जाते रोज़ दुहराती, "इसे तू ही भाती है। कहीं और छोड़ दूँ तो पल भर भी न रुके।" और जब-जब शीबू मेरी गोद से जाता, मेरे हाथ फैले रह जाते। बैसवाड़े की अपनी कोट की वह अंतिम रात, चित्र की तरह मेरी आँखों में खिंच जाती। ठीक उसी तरह, मेरी मुट्ठी से रत्न निकल गया था—देखते-देखते मेरा शरीर, मेरा धर्म, मेरा समर्पण सब जैसे खोखले टीन की आवाज़ की तरह बेमानी हो गये थे।

चाची ने जाने क्यों, उस दशहरे पर ज़ोर देकर मुझे तुम्हारे ही साथ भेजा था। कुल की रीति थी कि सगुन मेरे ही हाथ होता। मैं मालकिन बिटिया जो हो गयी थी। इसलिए हम कल्पना के पंखों पर उड़ते चले गये थे, बेलाग़, क्योंकि आसमान ही बाक़ी था, छूने को। हम एक दूसरे से कई बार रूठ चुके थे। कई बार एक दूसरे को मना भी चुके थे। मिलने पर खिल चुके थे, और अलग होते ही मुरझा भी चुके थे। इसलिए घर पहुँचते ही, उस विशाल कोट के सूने प्रांगण में, मैंने तुम्हें पति ही के रूप में देखा था। तुम्हारी बातें याद थीं। तुम्हारे प्यार के संकेत, जिन्हें शायद तुम अपनी कमज़ोरी मानकर, आत्मनिग्रह के निमित्त मत लिया करते थे; वे सब भी

मुझे मालूम थे पर तुम मेरे थे, और मैं तुम्हारी, इसलिए संयोग पर मैं किसी पाप की छाया नहीं देख पाती थी। तुम्हारे संकेत पर आँख मूँदकर खड़ी रह जाने में क्या मेरी वासना ही दीखती थी, तुम्हें ! शायद नहीं, क्योंकि तुम्हारा अंग-अंग उस समय महक उठता था। घृणा में ख़ुशबू नहीं होती, देव ! तुम्हारी दृष्टि ही शायद ऐसी थी।

मैं माँ की तरह हाथ में क्रिया का चक्र लेकर घूमती थी और तुम, ठीक पिता जी की तरह संतुष्ट, अपने को ढीला किये थे। घर की मुँहफट नौकरानियाँ क्या-क्या कह जाती थीं। गाँव की सहेलियों की आँखें मारे ख़ुशी के भर-भर आती थीं। उनकी दृष्टि में, तुम्हारे लिए तृष्णा थी। सच, तुम्हारा रूप ही इतना दैवी था। सौन्दर्य से अधिक सौम्यता और कुछ ऐसा प्रभाव कि देर तक तुम्हारी एक-एक बात, एक-एक संकेत मन में घुमड़ते रह जाते। आँखें नीचे झुकाये हँसते, तो जैसे शेफ़ाली के ओस-सिक्त कुसुम बरस गये हों। क्या-क्या लोग कहते तुम्हारी इस स्निग्धता पर, कैसी-कैसी हँसी करते, मेरे गाँव वाले।

इसी तरह दो दिन बीत गये, तीसरे दिन मंटू आ धमका। सीधे आँगन में आकर, कोठी की दीवारों को भौंचक्का होकर देखते देखते कहने लगा, "सब उदास हो गया बिटिया, रानी! का ठाट-बाट रहा लाल साहब के जमाने में। मुदा भगवान के मन में जाने क्या था!" फिर वह बहुत उदास हो गया और मौसा का पत्र मेरे हाथ में देते हुए बोला, "मामा की चिट्ठी आयी थी। बाबू जी जल्दी जवाब चाहते हैं। तुम दोनों लोगों से पूछा है कि क्या लिख दें, उनको?"

पत्र हाथ में लेते ही, मैं सब कुछ समझ कर, डर के मारे पसीने-पसीने हो गयी थी। आखिर वह समय आ ही गया और मैं जी कड़ा करके धीरे-धीरे तुम्हारे पास पहुँच गयी थी। कितनी बेचैनी से तुमने मेरा हाथ पकड़कर, मुझे अपने से सटा लिया था और मैं फफक-फफक कर रोने लगी थी। एकदम अप्रासंगिक था वह रोना, कम से कम तुम्हारे लिए। इसलिए जब बेचैन होकर तुम पूछने पर तुल ही गये, तो मैंने बिना कुछ कहे, वह पत्र तुम्हें थमा दिया था। हर वाक्य पढ़कर तुम्हारे हाथ ढीले होने लगे। शरीर मुझसे दूर जाने लगा। मन को उदासी छूने लगी...उफ्! मैं यही नहीं चाहती थी। काश, इस समय तुम कहीं दूर होते और मैं यह सोचती रह गयी होती कि तुम इस पत्र को पढ़कर मुझे पाने के लिए कितने पागल हो गये होगे, और मुझे अपने हृदय की परतों में छिपाकर कहते होगे, "प्राण, इस दुनिया में तुमसे प्यारा कुछ भी नहीं...कुछ भी नहीं नीलम! मैं खड़ा-खड़ा सूख जाऊँगा, तुम्हारे बिना। तुम हमेशा हमेशा के लिए मेरी हो—आदि और अंत के लिए, जीवन और मरण के लिए..."

लेकिन तुम चुप बने रहे—एकदम चुप। मैं इधर-उधर देखती रह गयी थी। शायद मैं ज़मीन पर नहीं खड़ी थी... बेहोश होती गयी थी...बेहोश...चेतनाहीन...मेरा सिर चक्कर खा रहा है, और अमृता-शीबू अपनी नन्हीं-सी फुलवाड़ी में पकड़-छू खेल रहे हैं। कितना तेज़ भागता है, यह फूलों का राजा! छोटी क्यारियों को फाँद जाता है। उसके नथुने फूल रहे हैं, और गालों पर गुलाब खिल उठे हैं। मेरी गोद भर

गयी है। मेरे सीने से दूध की धार बह रही है। शीबू बुरी तरह मसल-कर पीता है, बाँहों में भर लेता है, छाया कर लेता है..."तू ही रख इस नटखट छोकरे को, मैं तो बाज़ आयी, और सुमंगल ? वह बैठा-बैठाया एक बेटे का बाप बन जाएगा। समझ लो खयाल ही में, वह जीता भी तो केवल विचार ही में है।" अमृता खिलखिला कर हँसती है, जैसे भादों की घटाटोप, रिमझिम, बरसती, अँधेरी रात के सूने में कोई प्रेमी, अपनी बाँसुरी पर होंठ रख दे।

मैं चौंककर होश में लौट आयी हूँ। डायरी इसी तरह पड़ी है, कलम खुला पड़ा है और बिस्तर गंदा हो रहा है। कोई देख लेता तो ? लेकिन यह डर क्यों ! कितनी ही बार सोचा है कि इनका भ्रम तोड़ दूँ, पर ये हैं कि यह सब जानना ही नहीं चाहते। अब यह बात भी तो नहीं रही। डाक्टर कल जवाब दे गया, सम्बंधी इन्हें सहानुभूति से ढाढ़स बँधाने लगे हैं, थोड़े दिन की बात और है। क्यों इन्हें इतना बड़ा कष्ट दूँ, जब स्वयं ही जा रही हूँ।

सुबह जी कुछ हलका हो जाता है, लेकिन आज जैसे कुछ अजीब-सी चुहल छाई है, चारों ओर। ये भी बड़े खुश हैं, चम्पा भी और मेरा मन सब कुछ साफ़-साफ़ देख पाता है। बार-बार सोचती हूँ, तुम कैसे होगे, उस आश्रम की कोठरी में ! क्या खाते होगे और कैसे रहते होगे ? कौन तुम्हें वक्त पर

याद दिलाता होगा। मौसी पर झुँझलाहट आती है। क्यों वे तुम्हें यह सब करने देती हैं? मैं अब चुप नहीं रह सकती। इस बार गयी तो ज़बरदस्ती तुम्हें पकड़ लाऊँगी। कोठी के कमरे ठीक-ठाक करूँगी। सारा इन्तज़ाम करूँगी। देखूँ मेरा तुम क्या कर लेते हो! बहुत करोगे, झिड़क दोगे; यही न! मैं उसी को अपना सौभाग्य मानूँगी।

इसलिए नहीं कि मैं लोक-सेवा का विरोध या तुम्हारे मन में फूलों की सुगंध की तरह बसी, जन-सेवा का अनादर करूँगी, बल्कि इसलिए कि तुम अपनी स्वाभाविक वृत्तियों की प्रतिक्रिया में अपने को जला रहे हो, अपनी शक्तियों का नाश कर रहे हो। मुझे ख़ूब याद है, कभी तुम कितना अच्छा लिखते थे। तुम्हारी रचनाओं में जीवन की कितनी गहरी अनुभूतियाँ होती थीं और तुम्हारे विश्वास कितनी तीव्रता से मन को पकड़ते थे। तुम्हारी वही जगह थी। यह सब तो केवल मुझे भूलने का बहाना मात्र है। मेरी ही तरह, अपने रक्त-मांस को जलाकर ख़ाक करने का उपाय है। मैं भी जया की तरह तुम्हें देखने में असमर्थ रही। काश उस दिन...

फिर मैं अपनी कहानी के पास पहुँच गयी। तुम एकदम शांत रहे उस दिन, जैसे लगातार कुछ सोच रहे थे। मैं कई बार कमरे में जाकर वापस आयी, पर एक बार भी तुमने मुझे नहीं रोका, न पूछा ही कि नीलम, क्या होगा अब! क्या कह दिया जाए, इस पत्र के उत्तर में?

रात खाना खाकर, मैं सीधे बिस्तर में जा गड़ी थी। सिर में बेहद दर्द हो रहा था। अंग-अंग टूट रहे थे। दो रातों की

उनींदी आँखें जल रही थीं। तुम्हें क्या, गर्म लोहे पर ठंडे पानी के छींटे देकर पड़ जाते थे, पर मैं सारी रात जागती रह जाती थी। नींद किसी तरह न आ रही थी, तभी वे हाथ...आज भी उन ठंडी-लम्बी अँगुलियों की छुअन की याद, इस रूखे, निष्प्राण चमड़ों को गुदगुदा जाती है।

मैं चौंक पड़ी थी और तुम मेरा सिर अपनी गोद में लेकर, सहलाने लगे थे। पता नहीं क्यों, मन हल्का होने लगा था। दिन भर का जमा विष छुटने लगा था। और तुम्हारे हाथों के इशारे से या अपने ही से मैं अधलेटी होती गयी थी। धीरे-धीरे बादलों की लटें बढ़ रही थीं; भूरी, लम्बी ठंडी बाँहों की तरह चाँद के चेहरे को छोप रही थीं...पर यह काँप क्यों रही हैं! क्या इन्हें निर्लज्जता से डर है? आदिम मानव की पवित्र भावना से तिरस्कार है? नहीं, नहीं, और चाँदकी आकृति निर्वसना थी...एक दम कुंदन की तरह दमक रही थी, उसकी देह। बादलों के उल्लम्ब बाहु उसे कसते गये थे। चाँद का चेहरा छिपता गया था। मन के द्वार खुलते गये थे, "...ओह प्राण! तुम्हारे अतिरिक्त इस दुनिया में मुझे कुछ भी नहीं चाहिए...कुछ भी नहीं..." जैसे कानों में अमृत की बूँदें टपक रही थीं—चाँद का रस। सारा शरीर भींग गया था। बादलों ने चाँद की बेणी खोल दी। ठुड्डी पर हाथ लगाकर आँखों में आँखें डाल, अपनी ओर कर उसे सीने में छिपाना ही चाहा कि शीबू की किलकारियों से कान भर गये और नीचे बस्ती कोई चिल्ला पड़ा, "आग ऽ...आग ऽऽ...आग लगी हैऽऽ..." बिजली के किसी तार ने अनजाने में छू लिया। इतना

गहरा झटका लगा कि सारा दृश्यपट ही एकाएक बदल गया। हाथ फैले रह गये। दिशाएँ उन्हें जाने कब तक सँभाले रहीं और कोई बाण की तरह तेज़ी से नीचे उतर गया। अब भी उसकी पगध्वनि कानों में भरी है। यह गया..., वह गया..., चला गया..., मुझे यहीं छोड़कर।

फिर वह नहीं लौटा, कम से कम मेरे लिए। सुबह उसके हाथ काले हो गये थे, पैरों में छाले पड़ गये थे, कपड़े कई जगह जल गये थे और चेहरे पर जाने कहाँ की गहरी वेदना उतर आयी थी। केवल इतना जानती हूँ कि उसने मंटू से कहा था "मैं खुद ही चल रहा हूँ, पत्र की क्या ज़रूरत !" और वह हवा की तरह उड़ गया था। पखेरू के निःशब्द गमन की वह वेला, आज भी मेरे मन में एक रहस्य बनी हुई है। क्या करना था उस समय ? यह कल तक मेरे आगे साफ़ नहीं था, पर आज लगता है, उसे रोकना था, अपने लिए कुछ पूछना था, आखिर वही तो अपना सब कुछ है।

यह सब सोचकर मन बहुत घबरा उठा है। चेतना धीरे-धीरे डूब रही है। हृदय की सतह पर नन्हें-नन्हें बुल्ले उठ रहे हैं। बायें हाथ से सीना सहलाने लगती हूँ। लाकेट हाथ में आ जाता है। मौसी के घर का एक-एक कोना मुखर हो उठता है—मंटू, राबिन, मौसी, मौसा और तुम ! कितनी प्रसन्नता थी सबके मन में, मेरे जन्म-दिन पर। शीबू, अमृता और अमर खुशी के मारे फूले नहीं समाते थे। तुमने यही लाकेट लाकर दिया था। कितना सुखद है यह। कितने ही दुखी क्षणों में यह मेरे सीने से सटा, मुझे सांत्वना देता रहा है, और तुम्हारा

वह पत्र—शादी के बाद आया वह एक मात्र सुसमाचार... मैं पाकेट खोलने लगती हूँ। अँधेरे का गुम्बद उठने लगता है। मेरी आत्मा की प्रतारणा, साँप की फूत्कार की तरह भयावनी लगने लगती है और स्मृतियाँ बिजली की तरह चमककर सारे जीवन-पथ को रौशन कर देती हैं,...शायद तुम ऊब जाओ, मुझसे...शायद तुम्हारे प्रकाशमान भविष्य की सम्भावनाएँ कम हो जाएँ,...शायद मेरे कारण कोई बाधा आए, तुम्हारे मार्ग में,......शायद मैं उतनी योग्य नहीं; यही सब न! और मैंने सिर हिलाकर शादी के लिए अपनी स्वीकृति दे दी थी।

तूफ़ान की तरह तुम्हारी ट्रेन भागती चली गयी होगी, ...धुएँ से सारा दिगदिगंत भर गया है और हवा के झोकों से पेड़ों की पत्तियाँ टूटने लगी हैं। सेमल की लाल पंखुड़ियाँ टूटकर झर रही हैं और नन्हें, पतले, रुई के रेशे उड़ने लगे हैं। फल की आशा में फूल को सेता बैठा तोता, अवाक् ताक रहा है...तुम्हारा पत्र हाथ से छूटता जा रहा है...

"सेमल की नंगी डालों के वे बाहु-पाश,
जो फैले हैं सूने नभ में सब दिन हताश, सब दिन निराश
मानस मरु-से जैसे अभाव के भाव लिये,
उड़ती रूखी-सूखी कपास...

"...इतनी दूर तक साथ चलकर तुम ऐसे विमुख हो जाओगी, नीलम! मुझे यह नहीं मालूम था..., सच, नहीं"... मैं विमुख हो गयी?...तुम ऐसा कहते हो।... तुम!...अमृता

तू ही जवाब दे सकती है इनको, शीनू तू ही—तुम्हीं लोग, जो जीवन को उसकी सचाइयों में देखते हो...सचाइयों में...

मेरी ही चीखें मेरे कानों में भर गयी थीं, जैसे मेरे ही हाथों ने मेरा गला घोट दिया हो। पसीने की बड़ी-बड़ी बूँदें माथे पर काँटों की तरह उग आयी थीं। पता नहीं कैसे डायरी हाथ से छूट गयी, लेकिन वह मूर्ति की तरह निश्चेष्ट बैठा था। मेरे पाँव थरथरा रहे थे। मैं किसी तरह बाहर निकल जाने की कोशिश ही कर रहा था कि पीछे से आवाज़ आयी, "अमृता और शीनू को मिला देना मुझसे, भूलना नहीं... !"

H. C1130

891.4332 M58S

This book was taken from the Library on the date Last stamped. A fine of 10 paise will be charged for each day the book is kept over time.

10 NOV 2003	10/08/91

61130

H

891.4332 M585

मार्कण्डेय

सेमल के फूल

20Oct57
2 Jan58
For 7 days only
24Jan58
3Nov57
28Jan58
13Nov57
31Jan58
11Feb58
...Nov57
23Nov57
28Nov57
12Dec...
7Dec57
19Dec57

The Amir-ud-daula Govt. Public Library, Lucknow.

1. Books borrowed by members (Depositors) may be retained for 14 days only.

2. A fine of ten paisa will be charged each day for each volume that is overdue.

3. Borrowers will be held strictly responsible for any damage incurred to books while in their possession.